जन्म
जीवन
मृत्यु

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

ओ३म्

सहस्त्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ,
हरे र्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य,
संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥

अथर्व-१०.८.१८॥

(स्वर्ग पततः) स्वर्ग को जाते हुए (अस्य) इस (हरे हंसस्य) ह्रियमाण या हरणशील जीवात्मा हंस के (पक्षौ) पंख (सहस्राह्ण्यं) सहस्रों दिनोंसे (वियतौ) खुले हुए हैं, फैले हुए हैं (सः) वह हंस (सर्वान देवान) सब देवों को (उरसि) अपने हृदय में (उपदद्य) लिये हुए (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (संपश्यन) देखता हुआ याति जा रहा है।

युग बीत गये उडते उडते,
स्वर्गोन्मुख प्यारे राजहंस।
उर मे भरकर सब दिव्यगुण,
निखरत निखरत नव यो निविहंस ॥

ओ३म्

ज़न्म - जीवन - मृत्यु

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकशक:

INTERNATIONAL ARYAN FOUNDATION

302, Captain Villa,
Mount Mary Road,
Bandra, Bombay - 400050.
Telephone : 6421216

प्रथमावृत्ति : १९९०

मूल्य : रुपये २०.००

मुद्रक :
आशु मुद्रक
१९ वा रास्ता खार,
बम्बई ४०००५२.
दूरभाष ६४८२६७१

समर्पण

श्रीमती कान्ता कपूर

जन्म : ३ अप्रैल सन १९२९ प्रयाण : १७ दिसम्बर १९८७

जिन की पावन स्मृतिमें आपके पतिदेव
श्री महेन्द्रकुमारजी कपूरने इस पुस्तकका
प्रकाशन करवाया ।
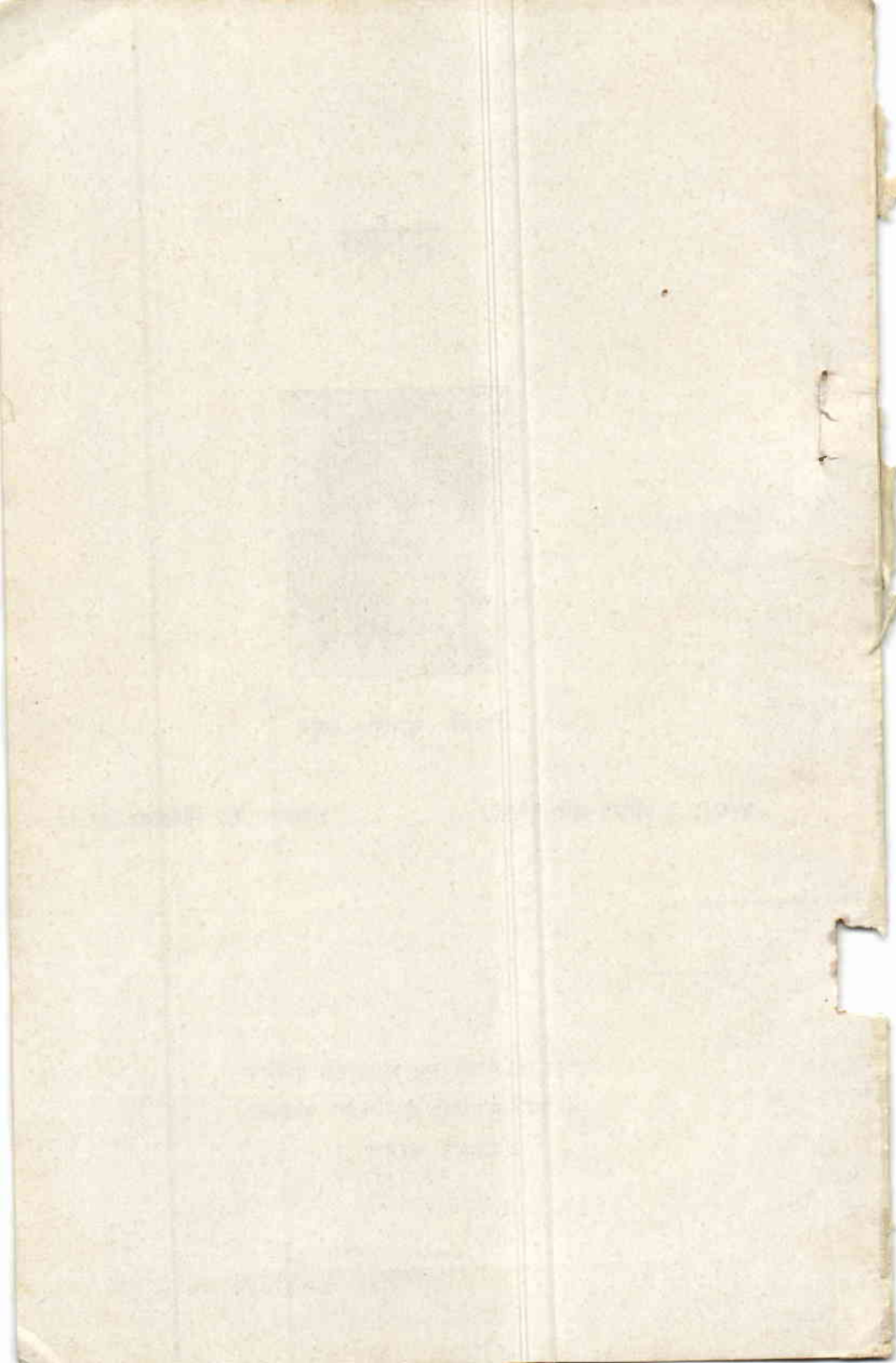
स्वर्गीया श्रीमती कान्ता कपूर का जीवन परिचय

श्रीमती कान्ता कपूर का जन्म अमृतसर (पंजाब) के सुसम्पन्न तथा धार्मिक श्री देवीचन्द जी मेहरा (पिता) तथा (माता) श्रीमती विद्यावती मेहरा के घर ३ अप्रैल सन १९२९ को हुआ। लाड़ प्यार में पलती प्रिय कान्ता की शिक्षा अमृतसर में ही होती रही। बारहवीं श्रेणी (इंटर) में पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण हुई। इस प्रकार पुत्री के रूप में कली की भांति विकसित हुई।

इन्हीं दिनों इस कन्या की सगाई की बात चल रही थी। हमारे प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता श्री रूपलाल कपूरजी के अभिन्न हृदय मित्र डॉक्टर संतराम जी अरोड़ा ने जब यह बताया कि प्रिय कान्ता ने प्रथम स्थान प्राप्त किया है तो उसी समय पिताश्री ने सगाई की स्वीकृति दे दी। उसी समय वाग् दान का शगुन लेकर प्रिय कान्ता को भावी बहु के रूप में स्वीकार कर लिया।

तदनन्तर १८ जनवरी १९४८ को प्रिय कान्ता का शुभ विवाह हमारे भाई प्रिय महेन्द्र कुमार जी के साथ अमृतसर में ही सम्पन्न हो गया। माता पिता की लाड़ली सुखेलद्दी पुत्री कान्ता ने, पत्नी के रूप में हमारे कपूर परिवार में प्रवेश किया।

" शिवा स्योना पतिलोके विराज "

हे वधू। कल्याणरूपा तथा सुखदायिनी बन कर तू पति के घर में विराजमान होकर राज्य कर तथा

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुरायश्म्भूः। स्योनाश्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान्॥

हे उत्तम मंगलमयि बहू! तू गृहवासियों के लिये गृहस्थ सागर की प्रकृष्ट नौकारूप बनकर, पति के लिये उत्तम सेवा करने वाली तथा उत्तम सुख देने वाली बनकर, श्वसुर और सास को सुख शान्ति प्रदान करने वाली बन कर इन पति-गृहों में प्रवेश कर॥

इन वेदवाणियों को शिरोधार्य कर प्रिय कान्ता अपना गृहस्थ जीवन सफल बनाने के प्रयास में लगी रही।

१५ नवम्बर १९४८ को दाम्पत्य जीवन की प्रथम कली पुत्री सुचेता के रूप में प्रभु से प्राप्त हुई। ३० नवम्बर १९५१ को पुत्री ऋचा का जन्म हुआ तथा २० जनवरी १९५४ को प्रिय अरविन्द के रूप में पुत्र रत्न प्राप्त हुआ।

एक आदर्श जननी तथा माता के रूप में प्रिय कान्ता ने अपनी संतान को, सुसंस्कार तथा सुशिक्षा से पल्लवित पुष्पित किया।

'पुमांसं पुत्रं जनय'

पौरुषमान् पुत्र को जन्म दे - इस वेदोक्ति के अनुसार प्रिय अरविन्द रूपी पौरुषवान् पुत्र को प्रदान किया जो इस समय पूज्य पिता महेन्द्रजी के कारोबार में नये नये कीर्तिमान बना रहा है।

सं पत्नी प्रति भूषेह देवान्

हे वधू ! घर में आये सब देवों, अतिथियों, सम्बन्धियों का सत्कार किया कर। इस अतिथि यज्ञ में तो प्रिय कान्ता घर में पधारे सब जनों का भरपूर आदर-सत्कार-सेवा करती रही। उसका गृहस्थ जीवन मानो इस वेदोक्ति का मूर्तरूप था।

'ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्रवाः'

ननदों की दृष्टि में रानी हो तथा अपनी सास की नज़रों में सम्राज्ञी बन - इस वेदोक्ति का तो अनुपम उदाहरण कान्ता जी ने अपने गृह जीवन में प्रस्तुत किया। हमारी पूज्या माताजी श्रीमती ऋषिदेवीजी की वह प्यारी बनीं तथा सब ननदों के हृदयों में अपने स्नेहयुक्त सद्भाव से, उच्च स्थान प्राप्त किया। हमारी सब से छोटी बहिन प्रिय प्रभातशोभा की पुत्री के विवाह पर न्युजर्सी अमरीका पहुंच कर अपना कर्त्तव्य पूरा किया।

अपनी दोनों पुत्रियों तथा पुत्र के विवाह बडी धूमधाम से समृद्ध उच्च परिवारों में किये। प्रिय पुत्री सुचेता का शुभ विवाह सम्पन्न तलवार परिवार के प्रिय रवि तलवार जी के साथ हुआ जिन्हें पुत्री प्रिया तथा पुत्र के रूप में प्रिय गौरव प्राप्त हुए। इसी प्रकार प्रिय पुत्री ऋचा का शुभ विवाह सम्पन्न चड्ढा परिवार के प्रिय ललित से हुआ जिन्हें प्रिय विवेक तथा अक्षय के रूप में दो पुत्र रत्न प्राप्त हुए। इसी प्रकार नवम्बर मास सन् १९७९ में प्रिय पुत्र अरविन्द का शुभ विवाह, विख्यात धार्मिक ओहरी परिवार की लक्ष्मी रूपा प्रिय पुत्री गौरी के साथ बडा धूमधाम से हुआ जिनको भगवान् ने पुत्री के रूप में प्रिय श्रद्धा तथा पुत्र रत्न आदित्य प्रदान किया। इस प्रकार प्रिय कान्ता ने सासु मां का दायित्व भी सफलता पूर्वक निभाया।

'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ

तुम दोनों रम्य घर में पुत्र पौत्रों के साथ, दोहती दोहतों के साथ हंसते खेलते हुए आनन्दपूर्वक रहो। इस वेदोक्ति के साथ पति-पत्नी प्रिय महेन्द्र -कान्ता मोद प्रमोद के साथ, बच्चों के साथ हंसते खेलते जीवन का आनन्द ले रहे थे कि सन् १९८५

में प्रिय कान्ता को भयानक रोग छाती के कैंसर ने घेर लिया । प्रिय महेन्द्रजी ने डॉक्टरी इलाज करने में कोई कसर उठा न रखी । पानी की भांति धन बहाया - ऊंचे से ऊंचे डॉक्टरों का इलाज करवाया पर विधाता के मन कछु और था- अन्ततोगत्वा, १७ दिसंबर १९८७ को क्रूर काल ने केवल ५८ वर्ष की आयु में प्रिय कान्ता को दबोच लिया ।

विधुं दद्राणं समने बहूनां,
युवानं सन्तं पलितो जहार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा,
अद्या ममार स ह्यः समान ।।

अर्थ - एक ऐसे नौजवान - (नवयुवती) को जो कि विविध काम करने वाला है और रण में बहुतों को मार भगाने वाला है उसे एक बूढ़ा निगल जाता है । देव के इस बडे महत्व वाले काव्य को देख कि कल जो जी रहा था, सांस ले रहा था वही आज मरा पड़ा है । इस वेद ऋचा के अनुसार भगवान् के अटल नियम से उस बुड्ढे यमराज ने प्रिय कान्ता को भी निगल लिया- मन की मन ही माहि रही । प्रिय कान्ता ने मुझे कहा था कि अब तो हमारा विश्राम तथा मौज करने का समय था । विधाता ने यह कैसी क्रीडा कर दी? कवि भर्तृहरि के शब्दों में -

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्री ।
इत्थं विचिन्तयन्ति कोशगते द्विरेफे,
हा हंत हंत नलिनीं गज उज्जाहार ।।

एक भंवरा कमल-नलिनी पर बैठा रसास्वादन कर रहा था । सायंकाल होने पर सूर्य डूब गया - कमल बन्द हो गया । उसके भीतर भ्रमर सोच रहा है कि रात गुज़र जायेगी - सुप्रभात होगा - सूर्य उदय होगा तो कमल रूपी नलिनी की पंखड़ियां हंस कर खुल जायेंगी । इस प्रकार भंवरा बन्दी बना सोच ही रहा था कि एक मतवाला हाथी आया तथा नलिनी को खा गया ।

इसी प्रकार उस नलिनी रूपी कान्ता को काल रूपी बुड्ढा कराल मृत्यु ले गया ।

इस दिव्य मृत्यु का दृश्य भी असाधारण था । प्रिय कान्ता बडी धर्म परायणा थी । जहां ब्रह्मचारी जगन्नाथ पथिक तथा आचार्य कृष्ण (वर्तमान स्वामी दीक्षानन्द जी) उनके घर पर आते रहे वहां महामण्डलेश्वर स्वामी गणेशानन्द जी, स्वामी ब्रह्मानन्द जी तथा स्वामी कृष्णानन्द जी की भी उन पर बडी कृपा रही । अन्तिम दिन भी ऐसे ही उपनिषद् - वाक्य सुनती रही । एक दिन पूर्व सायंकाल कौमा में बेहोश सी हो गई । सब घबड़ा गये । परन्तु एक घण्टे पश्चात् स्वयमेव होश में आ

गई तथा उस कौमा के एक घण्टे में जो अद्‌भुत मृत्यु का दृश्य देखा वह सुनाने लगी।

अन्तिम क्षणों में ऐसा प्रतीत होता है कि वह ध्यानावस्था में चली गई। उनके सुपुत्र प्रिय अरविन्द ने अपनी गोदी में उनका सिर रखने का प्रयास किया तो उन्होंने इशारे से मना कर दिया। इससे पता लगा कि वह होश में थी। केवल आंखें बन्द कर रखी थीं। मैं पास खड़ा यह दृश्य देख रहा था। हम सब गायत्री मंत्र का उच्चारण कर रहे थे। उधर कान्ता जी का प्राण - उदान प्राण के सहारे से शनै: शनै: ऊपर उठता हुआ, जरजरित शरीर को छोडकर अपने कारण भूत समष्टि महा प्राण में जा मिला -

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा - विद्यया अमृतमश्नुते।

ऐ जीव ! तुम शुभ कर्मों से मृत्यु को जीतकर, विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त करो। इस वेदोक्ति के अनुसार प्रिय कान्ता ने शुभ कर्मों के यश से मृत्यु को जीत लिया - शरीर भस्मान्त हो गया परन्तु शुभ कर्मों से आत्मा तो अमरत्व की यात्रा पर अमर हो गई।

देवेन्द्र कुमार कपूर

प्रकाशकीय वक्तव्य

जब से सृष्टि की रचना हुई है, मनुष्य के हृदय में यह प्रश्न उठता रहा है कि यह संसार क्या है, कैसे बना तथा किस हेतु बना ? योगदर्शन २-१८ सूत्र में इस समस्या का सुन्दर वर्णन है।

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकम् भोगापवर्गार्थं दृश्यम् '

अर्थात् प्रकृति के सत्व, रजस्, तमस् रूपी तीनों गुणों का यह दृश्यमान् जगत् परिणाम है, यह उसका स्वभाव है। और पांचों सूक्ष्म भूतों तथा स्थूल भूतों का यह स्वरूप है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, रूपी सूक्ष्म भूत (तन्मात्रायें)तथा पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाशरूपी स्थूल भूता का जब इन्द्रियों - मन - चित्त के साथ आत्मा का संयोग होता है तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है। परमात्मा इसका निमित्त कारण होता है।

किसलिये परमात्मा ने संसार की रचना की ? उत्तर देते हैं कि भोग तथा अपवर्ग के लिये यह दृश्यमान् जगत् बना। आदिकाल से जीव आत्मा चित्त में संस्कारों तथा वासनाओं से अविष्टित, जन्म- मरण के चक्कर में चलता रहता है तथा अपने ही शुभ-अशुभ कर्मो के अनुसार सुख-दुख भोगता रहता है। इस प्रकार भोग भोगता हुआ इन दुखों से छूटने के लिये मोक्ष प्राप्ति के लिये सतत प्रयास करता रहता है। अत: भोग और अपवर्ग के हेतु भगवान् ने यह संसार बनाया। जन्म और मरण के ऊपर तो जीव का कोई अधिकार नहीं है। इन दोनों के मध्य में जो जीवन धारा बहती है उसी पर इस का अधिकार है। इसीलिये पाणिनि मुनि ने कहा —

स्वतंत्र: कर्त्ता

इस जीवन को कैसे सफल बनाया जाये तथा धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी जीवन के उद्देश्य को कैसे प्राप्त किया जाये इसके लिये भगवान् ने हमें वेद रूपी ज्ञान दिया जिसपर आचरण करते हुए हम जीवन सफल कर सकते हैं।इसी वेदामृत में उपासना योग रूपी राजमार्ग दर्शाया।

युञ्जान: प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धिय:
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ।।

अर्थात् अपने मन और बुद्धि को उपासना योग द्वारा परमात्मा से युक्त करके, उसकी प्रकाश-ज्ञान स्वरूप ज्योति का निश्चय करें तथा उस प्रेरक सवितादेव के पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव को अपने क्रियात्मक जीवन में धारण करके, योगी बनकर इस पृथिवी पर विचरण करें।

इस प्रकार के पावन मंत्रों को जीवन में धारण करके जीव अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है।

प्रिय भ्राता महेन्द्र कुमार जी कपूर ने यह इच्छा प्रकट की कि जन्म-जीवन-मृत्यु के सम्बन्ध में एक सुन्दर पुस्तक तय्यार की जाए। मैंने दिल्ली में वैदिक वाङ्मय के उत्कृष्ट विद्वान् - कई उच्च कोटि के ग्रन्थों के लेखक, श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती से प्रार्थना की, वह तुरन्त मान गये और आंखों में मोतिया बिन्द का कष्ट होने पर भी तुरन्त इस को लेख बद्ध कर दिया। इस प्रकार प्रिय महेन्द्रजी ने अपनी स्वर्गीया पत्नी, श्रीमती कान्ता जी के तृतीय पुण्यस्मृति दिवस पर इस **जन्म-जीवन-मृत्यु** नामक रोचक तथा ज्ञानवर्धक पुस्तक का प्रकाशन करवा दिया। इससे पूर्व भी कान्ता जी की इच्छानुसार महेन्द्रजी ने एक लाख रुपयों का सात्विक दान बम्बई स्थित टाटा कैंसर ट्रस्ट को दिया जिससे ब्रैस्ट कैंसर सम्बन्धित बृहद् ग्रन्थ छापा गया था। प्रथम पुण्य तिथि पर रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रांगण में, पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी तथा पं. विश्वनाथ श्रोत्रिय जी की अध्यक्षता में एक बृहद् दर्श पौर्णमास यज्ञ करवाया। तदनन्तर ट्रस्ट के भवन में अतिथियों के लिए दो भवन तथा विद्यार्थियों के हेतु स्नानागार बनवाया। इसी वर्ष रा.ल. क. ट्रस्ट के स्थाई कोष में एक लाख रुपयों का दान दिया। इस प्रकार बोधन्तु शूर रातय: अर्थात् दान देने वाले शूर वीर जागें - इस वेदोक्ति को सदा सार्थक करते रहते हैं।

इन्टरनैशनल आर्यन फौंडेशन बम्बई को इस पुस्तक का कार्य भार सौंपा गया है। अत: फौंडेशन की ओर से प्रिय महेन्द्रजी को साधुवाद देता हूं।

श्री स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती की फौंडेशन पर सतत कृपा रही है। कुछ वर्ष पूर्व मैंने स्वामी जी से प्रार्थना की कि आप लिखते जाइये हम छपवाते जायेंगे - प्रभु कृपा से यह क्रम चल रहा है।

'शतं जीव शरद: वर्धमान: स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज:

इस वेदवाणी द्वारा स्वामी जी की शतायु की प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

इस पुस्तक के छपवाने में प्रिय संगीत शर्मा ने सारा उत्तरदायित्व लेकर, अल्पकाल में सुन्दर रूप में इस पुस्तक को छपवा दिया। उनका अतिशय धन्यवाद।

देवेन्द्र कुमार कपूर
अध्यक्ष : इण्टरनैशनल आर्यन फौंडेशन बम्बई

सृष्टि रचना

प्रत्यक्ष से बढकर कोई प्रमाण नहीं - चाहे वह ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष हो अथवा मानस या आध्यात्मिक । जगत् की यथार्तता जो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, शास्त्र द्वारा अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकती । वस्तुत: शास्त्र का प्रामाण्य भी इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि वह कभी न कभी हुए किसी न किसी के साक्षात् अनुभव का ही व्याख्यान होता है । इसलिए 'शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोध:' - प्रत्यक्ष तथा शास्त्र एक - दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते ।

संसार में जड व चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है । तब इन दोनों से निर्मित जगत् कैसे मिथ्या हो सकता है ? उसके अस्तित्व को नकारना अपने अनुभव को नकारना है । जो व्यक्ति बैठा हुआ भोजन कर रहा है और उसके फलस्वरूप तृप्ति भी अनुभव कर रहा है, वह यदि यह कहे कि न मैं भोजन कर रहा हूं और न मेरी भूख शान्त हो रही है, तो उसकी बात का कौन विश्वास करेगा? जो व्यक्ति (नवीन वेदान्ती) संसार को मिथ्या मानता है, उसे भी पर्वत, जंगल, नदियां, पशु - पक्षी, मनुष्य आदि सब वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे संसार को यथार्थ मानने वाले को। अपने - अपने स्थान पर जड व चेतन दोनों सत्य हैं और इस कारण जगत् भी सत्य है ।

प्रत्येक कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है । **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योग २।१८)** के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है । यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है । भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियसन करने वाली सत्ता का होना भी आवश्यक है । किसी पदार्थ का उपादान कारण अचेतन तत्व होता है । चेतन केवल कर्त्ता या भोक्ता होता है । ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए है । इस प्रकार परमात्मा केवल प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१२) में इन तीन सत्ताओं का उल्लेख **'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च'** कहकर किया गया है। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । खाने वाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैठेगा ? ईश्वर के पूर्ण तथा आप्तक़ाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, अन्यथा सृष्टि रचना निष्प्रयोजन होगी । इस भोक्ता का संज्ञा 'जीव' है । यदि खाने को कुछ न हो तो खाने वालों को कौन घर में बुला कर बिठायेगा ? भोग्य रूप में प्रस्तुत 'प्रकृति' है जो जड होने से भोक्ता नहीं हो सकती । कर्ता के बिना किया नहीं होती । कर्त्तृत्व चेतन का धर्म है । इसलिए अचेतन तत्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता । उसे गति देने और नियन्त्रित करने के लिए क़िसी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् पुरुष विशेष का होना नितान्त आवश्यक है । वही 'ईश्वर' कहाता

है । इस प्रकार सृष्टि रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों कारण हैं ।[१] इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग न होता। ये तीनों अनादि - अनन्त अर्थात् नित्य हैं ।

सृष्टिक्रम - जैवी सृष्टि से पूर्व जीवों के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक है । प्यास लगने पर कुआं खोदना बुद्धिमत्ता नहीं । इस व्यवस्था के अनुसार पहले औषधि - वनस्पति, फिर पशु - पक्षी (कृमि से हाथी पर्यन्त) और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए । प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, औषधि, वनस्पति, फल, मूल आदि भोज्य पदार्थ, सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे । इनके बिना प्राणि मात्र के लिए धरती पर रहना संभव न था । यजुर्वेद (३१।६) के अनुसार '**संभृतं पृषदाज्यं पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्यांश्च ये** ' अर्थात् परमेश्वर ने पहले दध्यादि भोज्य पदार्थों तथा वायु में गमन करने वाले पक्षियों, सिंह, व्याघ्रादि वनैले पशुओं और गांवों में रहने वाले गाय, घोडे आदि पशुओं को उत्पन्न किया । इस प्रकार जड जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की और चेतन में भी क्रमश: सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई ।

सृष्टि रचना का यह विवरण कालक्रम की दृष्टि से किया है । इसमें तथा कथित विकासवाद (Theory of Evolution or Natural Selection) का लेशमात्र संकेत नहीं है । विविध योनियां एक ही देह से प्रारम्भ होकर उसी के विभिन्न रूप नहीं हैं, अपितु आदि काल से ही सब अपने वर्तमान रुप में चली आ रही हैं ।

विकासवाद

परमेश्वर सृष्टि का रचयिता, नियामक तथा प्रेरक है । उसी ने विविध नामरूपयुक्त प्राणियों की सृष्टि की है । आज जो लाखों प्रकार के देहधारी प्राणी दिखाई पड रहे हैं - कृमि से लेकर हाथी और मनुष्य पर्यन्त, वे सब सृष्टि के आदि काल से साजात्य - प्रजनन के द्वारा इसी रूप में चले आ रहे हैं । सभी की स्वतन्त्र सत्ता है, मूल में किसी एक योनि की शाखा - प्रशाखा नहीं है । यजुर्वेद (३१।८) में स्पष्ट लिखा है -

तस्मादश्वाऽजायत ये के चोभायदत: ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽजावय: ।।

'तस्मादिति परमेश्वरात् (दयानन्द:), ब्रह्मण:(महीधर:) ; उभयादत: = ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ता: गर्दभादयोऽश्वतराश्च । छान्दसं दीर्घत्वम् ।'

1. Eternal trinity is the basis of all creation. It answers the three questions : creation by whom, creation for whom and creation whence? Reality is not one, but two. Two here means more than one. _ C. E. M. Joad : Matter, Life and Value, P. 71

अर्थात् - घोडे आदि दो जबाडों वाले, बकरी - भेड आदि सब पशु उस परमेश्वर से (तस्मात् = परमेश्वरात्) उत्पन्न हुए, एक दूसरे से नहीं । आगे नवें मन्त्र में मनुष्यों (साध्याश्च ऋषयश्च) की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा कही गई है । इस तरह प्रकारान्तर से वेद में सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में ही विभिन्न योनियों में एक - दूसरे की अपेक्षारहित प्राणिमात्र की सृष्टि का वर्णन किया गया है ।

इसके विपरीत आधुनिक विद्वानों के अनुसार सब प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजों से सन्तति - उप सन्तति द्वारा उत्पन्न हैं । इसके वर्तमान रूप परिस्थितिजन्य हैं । इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एक - कोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ । धीरे - धीरे उसी के विलक्षण विकास के परिणामस्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव होता गया । सभी प्राणी अपने से पूर्व अवनत रुपों का उन्नत अथवा परिष्कृत संस्करण हैं । जब जीवन की दशाओं के किसी व्यक्ति का कोई अंग निकम्मा हो जाता है तो स्वाभाविक निर्वचन और निकम्मापन दोनों मिल कर उसके नष्ट होने अथवा चिन्ह मात्र रह जाने का कारण बन जाते हैं ।[१] इसी प्रकार प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियां हैं जो उसके नये अंगों के विकास तथा परिवर्तन का कारण बनती हैं । भोजन के लिए प्रयास, शत्रुओं से रक्षा और प्रकृति के अनुकूल अपने को ढालने के परिणामस्वरूप शरीरों में परिवर्तन होता गया और इस प्रकार विभिन्न योनियों के रूप में प्राणी बंट गया । अभिप्राय यह है कि आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा और उसको पूरा करने का चिरकालीन अभ्यास आकृति - परिवर्तन का मूल कारण है । किन्तु एक कोष वाले प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ - इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया । वस्तुत: सृष्टि के आदि में जिस प्रकार एक कोश के देह की रचना हो जाती है, वैसे ही अनेक कोशयुक्त देह की भी रचना संभव है । सभी विशिष्ट देहों की रचना अपनी नियत इकाइयों अर्थात् उपादान कारणों से स्वतन्त्र रूप में होती है । कार्य - कारण भाव से अमीबा के एक कोश के देह से अनेक कोशयुक्त देह का कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसे अमीबा का प्रादुर्भाव अमैथुनी सृष्टि है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहों के प्राणियों की सृष्टि भी अमैथुनी है । आगे सजातीय नियमों के अनुसार ही सृष्टि चलती है ।

क्रमिक विकास में प्राणी की आवश्यकताजन्य इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ

1.American scientists predicted that a time might come when American babies might be born without legs, for in the history of evolu tion of animals it has been that any organ which is not used for prolonged periods may dropout of the system. _ Russia Revisited by K P. S.Menon.

वियुक्त होना मृत्यु । बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।८) में लिखा है - **"स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः ।"** अर्थात् जब वह जीवात्मा पुरुष शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब वह शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहाता है । इस प्रकार जीवात्मा में जन्म मरण का व्यवहार देह से संयोग - वियोग के आधार पर होता है ।

मरणोपरान्त जब शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वायु में चला जाता है - '**सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा**' (ऋ. १०।१६।१) फलोपभोग के कारण प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर संचित में से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है । इस प्रकार पूर्वजन्मों में किये पाप - पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से मुक्त आत्मा, पूर्व शरीर को छोडकर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य में प्रविष्ट हो जाता है । तदनन्तर ईश्वर की प्रेरणा से स्त्री की योनि के द्वारा वह गर्भाशय में स्थित हो जाता है और दस मास तक (ऋ.५।७८।८-९; अथर्व.१।११।६) वहां पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है । स्त्री के गर्भाशय में किस दिन आत्मा का शरीर से संयोग हुआ, प्रायः इसका पता चलना कठिन है । इसलिए व्यवहार में शरीर के गर्भाशय से बाहर आने को ही जन्म लेना कहा जाता है । शरीर से संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है -

दश मासाञ्छशयानःकुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि ।।५।७८।९।।

दस मास तक माता के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से निकले । इससे पहले मन्त्र में '**दशमास्यः अवेहि**' कहा है । अथर्ववेद (१।११।६) में '**दशमास्यः अवपद्यताम्**' लिखा है । यहां सर्वत्र बालक के माता के गर्भ में दश मास तक रहने का उल्लेख हुआ है, जबकि लोकव्यवहार में सदा 'नौमास' का व्यवहार होता है । इसलिए वेद में आये '**दश मासान्**' आदि का अर्थ '**दशमे मासि**' करना उपयुक्त है । रघुवंश में रघु के जन्म के सन्दर्भ में उसके समय पर (काले) उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है । सभी टिकाकारों ने '**काले**' का अर्थ '**दशमे मासि**' ही किया है ।

रज और वीर्य के मिश्रण के बिना गर्भस्थिति संभव नहीं और इस मिश्रण के लिए नर और मादा का समागम आवश्यक है - परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष में । वीर्य बैंक और परखनली आदि उसी प्रकिया के रूप हैं । ईश्वर या दैवी चमत्कार के नाम पर (ईसा और कुन्ती की सन्तानों के जन्म की तरह) स्त्री-पुरुष के समागम के बिना होने वाली सन्तानें वस्तुतः अवैध होती हैं अथवा किसी

अर्थात् - घोडे आदि दो जबाडों वाले, बकरी - भेड आदि सब पशु उस परमेश्वर से (तस्मात् = परमेश्वरात्) उत्पन्न हुए, एक दूसरे से नहीं । आगे नवें मन्त्र में मनुष्यों (साध्याश्च ऋषयश्च) की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा कही गई है । इस तरह प्रकारान्तर से वेद में सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में ही विभिन्न योनियों में एक - दूसरे की अपेक्षारहित प्राणिमात्र की सृष्टि का वर्णन किया गया है ।

इसके विपरीत आधुनिक विद्वानों के अनुसार सब प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजों से सन्तति - उप सन्तति द्वारा उत्पन्न हैं । इसके वर्तमान रूप परिस्थितिजन्य हैं । इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एक - कोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ । धीरे - धीरे उसी के विलक्षण विकास के परिणामस्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव होता गया । सभी प्राणी अपने से पूर्व अवनत रुपों का उन्नत अथवा परिष्कृत संस्करण हैं । जब जीवन की दशाओं के किसी व्यक्ति का कोई अंग निकम्मा हो जाता है तो स्वाभाविक निर्वचन और निकम्मापन दोनों मिल कर उसके नष्ट होने अथवा चिन्ह मात्र रह जाने का कारण बन जाते हैं ।[१] इसी प्रकार प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियां हैं जो उसके नये अंगों के विकास तथा परिवर्तन का कारण बनती हैं । भोजन के लिए प्रयास, शत्रुओं से रक्षा और प्रकृति के अनुकूल अपने को ढालने के परिणामस्वरूप शरीरों में परिवर्तन होता गया और इस प्रकार विभिन्न योनियों के रूप में प्राणी बंट गया । अभिप्राय यह है कि आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा और उसको पूरा करने का चिरकालीन अभ्यास आकृति - परिवर्तन का मूल कारण है । किन्तु एक कोष वाले प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ - इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया । वस्तुत: सृष्टि के आदि में जिस प्रकार एक कोश के देह की रचना हो जाती है, वैसे ही अनेक कोशयुक्त देह की भी रचना संभव है । सभी विशिष्ट देहों की रचना अपनी नियत इकाइयों अर्थात् उपादान कारणों से स्वतन्त्र रूप में होती है । कार्य - कारण भाव से अमीबा के एक कोश के देह से अनेक कोशयुक्त देह का कोई सम्बन्ध नहीं है । जैसे अमीबा का प्रादुर्भाव अमैथुनी सृष्टि है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहों के प्राणियों की सृष्टि भी अमैथुनी है । आगे सजातीय नियमों के अनुसार ही सृष्टि चलती है ।

क्रमिक विकास में प्राणी की आवश्यकताजन्य इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ

1.American scientists predicted that a time might come when American babies might be born without legs, for in the history of evolu tion of animals it has been that any organ which is not used for prolonged periods may dropout of the system. _ Russia Revisited by K P. S.Menon.

किये गये अभ्यास के कारण होने वाले आकृति-परिवर्तन के सन्दर्भ में जिराफ का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। अफ्रीका में बहुत लम्बी गर्दन वाला जिराफ नामक एक पशु पाया जाता है। कहते हैं कि पहले इसकी गर्दन इतनी लम्बी नहीं होती थी। ऊंचे वृक्षों पर लगे पत्तों तक पहुंचने के लिए अपनी गर्दन को ऊंचा उठाते रहने के कारण कालान्तर में उसकी गर्दन लम्बी हो गई। दस - बीस या सौ पचास वर्षों के अभ्यास से तो यह संभव नहीं। लाखों - करोडों वर्ष लगने चाहिए। इतनी लम्बी अवधि में तो भौतिक परिस्थितियों में बहुत उलट - फेर हो जाता है। प्राणी की आवश्यकता और उसकी स्थिति भी लाखों - करोडों वर्षों तक वैसी ही बनी रहे - यह भी संभव नहीं दीखता। फिर वृक्षों के पत्तों को खाने वाले और भी प्राणी हैं। उन सबकी गर्दनें क्यों नहीं लम्बी हो गई ? हम देखते हैं कि बकरी पहले नीचे लगे पत्तों को चुगती है और फिर पेड के तनों और टहनियों पर अगले पैर टिकाकर, जहां तक उसका मुंह पहुंच पाता है, वहां के पत्ते कुतर लेती है। इसी तरह वह लाखों - करोडों वर्षों से अपना पेट भरती आ रही हैं। जहां तक वह पैर टिकाकर चुग लेती है उसके ऊपर भी पत्ते रहते हैं। संभव है वह उन्हें भी चुगना चाहती हो। पर न उसकी गर्दन बढी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ और न उसके लिए चारे की कमी हुई, जबकि जिराफों की तुलना में बकरियों की संख्या भी कहीं अधिक है। अपनी आवश्यकता की पूर्त्यर्थ अभ्यास करना ही अभीष्ट था तो जिराफ ने बन्दर की तरह पेड पर चढने का अभ्यास क्यों नहीं किया ? यह अपेक्षाकृत आसान रास्ता था और बहुत जल्दी - दो चार वर्ष में ही काम बन जाता और पेड की चोटी तक उसकी पहुंच हो जाती। फलतः जिराफ की गर्दन लम्बी होने की कहानी कल्पना से अधिक कुछ नहीं। यदि प्रकृति पूर्वकाल में एक व्यक्ति को विकृत करने योग्य थी तो उसने अब यह काम करना क्यों बन्द कर दिया? क्रमिक विकास का सिलसिला मनुष्य पर आकर क्यों ठहर गया ? मनुष्य के आगे उसका और कुछ क्यों नहीं बना ?

यदि यन्त्र के विकास जैसे सिद्धान्त पर प्राणियों का विकास हुआ तो जैसे निचले स्तर के घटिया यन्त्रों का निर्माण बन्द होकर (मोटर, साइकल, पंखे, विमान, घडियां आदि) केवल अन्तिम विकसित नमूने के ही बनाये जाते हैं, वैसे ही विकास की अन्तिम सीढी पर पहुंचे हुए केवल मनुष्य ही सृष्टि में रह जाने चाहिए थे।

जीवन संग्राम में यदि योग्यतम ही बचे रह जाते हैं (Survival of the fittest) तो क्या कारण है कि मछली से रूपान्तर होते - होते योग्यतम एवं श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य के बन जाने पर भी जितने छोटे कीट, कृमि, मछली, चूहे, बिल्ली आदि हैं संख्या में बहुत अधिक हैं और योग्यतम माने जाने वाले मनुष्य से तो प्रायः (हाथी, कंगारु, शेर आदि) कुछ प्राणियों को छोडकर सभी

प्राणी अधिक हैं । निर्बल होने के कारण मनुष्य से नीचे की तो सभी जातियां कभी की स्वत: नष्ट हो जानी चाहिए थीं । मनुष्य को बल में हाथी, घोडे और शेर ने परास्त कर दिया । आयु में कछुए और सांप ने पछाड दिया । कारीगरी, परिश्रम, संचय, प्रबन्ध और अनुशासन की दृष्टि से मधुमक्खी अपने से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाने वाले प्राणियों से कहीं श्रेष्ठ है । बौद्धिक स्तर पर विद्वानों की अपेक्षा मूर्खों की संख्या कहीं अधिक है ।

आज भी मछली से मछली, बन्दर से बन्दर, चिडिया से चिडिया ही पैदा होती है । ये अपने अनेक पूर्वजों की भांति मनुष्य क्यों नहीं बन गये ? न कभी छिपकली के अण्डे में से गिलहरी निकली देखी गई और न कभी बन्दर या चिंपाजी से मनुष्य का जन्म देखा - सुना गया । मनुष्य और बनमानुष के संयोग से भी मनुष्य पैदा न हो सका ।

स्वाभाविक निर्वाचन (Natural Selection) के अनुसार प्रत्येक प्राणी 'स्वभावत:' अपने आपको योग्यतम (Fittest) बनाने का यत्न करता रहता है। फिर क्यों माता - पिता अपनी सन्तान की और शासन या राजा अपनी प्रजा की शिक्षा - दीक्षा की व्यवस्था करते हैं ? पहाडों और जंगलों में रहने वाले लोग - यहां तक कि पढे - लिखे माता - पिता के बच्चे बिना स्कूल - कॉलेज में गये विद्वान् क्यों नहीं बन जाते ? सरकस में काम करने के लिए सृष्टि - उत्पत्ति के करोडों वर्ष बीत जाने पर भी स्वयं सीखे - सिखाये पशु क्यों नहीं मिलते ।

प्रत्यक्ष में जहां उन्नति का नियम काम करता है, वहां साथ ही साथ अवनति का नियम भी काम करता है । मूर्खों की सन्तान विद्वान् और विद्वानों की सन्तान मूर्ख देखी जाती है । इसी प्रकार पापियों की सन्तान धर्मात्मा और धर्मात्माओं की सन्तान पापी देखी जाती है । यदि सन्तति अनुक्रम का सिद्धान्त ठीक होता तो उत्तरोत्तर अधिक बुद्धिमान् और धर्मात्मा ही बनते जाने चाहिए थे । किन्तु हम देखते हैं कि जो जातियां कभी उन्नति के शिखर पर थीं और संसार के विशाल भू भाग पर शासन करती थीं वे आज अवनत और पददलित एवं परमुखापेक्षी हैं ।

यदि योग्यतम की ही विजय होती है तो परिवार में सबसे निर्बल शिशु को अपने हाल पर क्यों नहीं छोड दिया जाता ? जीने में समर्थ होगा तो जी जायेगा । मनुष्य ही नहीं, पशु - पक्षी तक भी अपने बच्चों का पालन - पोषण क्यों करते हैं ?

यदि परिस्थिति के अनुरूप शरीर का निर्माण होता है तो एक सी परिस्थिति में जन्म लेने और पलने वाले भाई - बहन में बहन के मुंह पर मूंछें क्यों नहीं होतीं ? हाथी और हथिनी में हथिनी के मुंह में बाहर को निकले दांत क्यों नहीं होते ? मोर और मुर्गे की भांति मोरनी और मुर्गी के सुन्दर पंख और कलगी क्यों नहीं होते जबकि वे मादा हैं जिनमें सौन्दर्य विशेष अपेक्षित है ।

यदि यह माना जाये कि किन्हीं पशुओं में सींगों की उत्पत्ति इसलिए हुई कि वे संघर्ष के समय बचाव के लिए हथियार की तरह उनका उपयोग कर सकें तो सभी पशुओं के सींग क्यों नहीं निकले ? पशुओं की तरह मनुष्य के भी रहते तो अच्छा था। उसे अपने बचाव के लिए लाठी आदि की व्यवस्था न करनी पडती। यदि आत्मरक्षार्थ सींगों का विकास हुआ तो हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक जंगली पशुओं में केवल नर के ही सींग क्यों निकले ? क्या मादा को अपना बचाव नहीं करना था ?

शीतप्रधान प्रदेशों में प्राणियों में रोम बढना तथा उष्ण देशों में रोमों का न होना, विकासवाद के अनुसार, आकृति - परिवर्तन प्रसंग में प्राणियों की आवश्यकता के कारण है। परन्तु हम देखते हैं कि अनादि काल से उत्तरी ध्रुव और ग्रीनलैंड जैसे शान्ति प्रधान देशों में रहने वाले मनुष्यों के शरीरों पर भी भेड या रीछ की भांति बाल उत्पन्न न हो सके। जैसे बाल राजस्थान की भैंस के होते हैं, लगभग वैसे ही हिमालय में रहने वाली भैंसों के होते हैं। अफ्रीका के मरूस्थल में लम्बे बालों वाला रीछ और बिना बालों वाला गैंडा एक साथ रहते हैं।

नाना स्थलों में जन्तु विशेष का पाया जाना भी जातियों की स्वतन्त्र उत्पत्ति को दर्शाता है। हाथी, सिंह व मोर भारत में होते हैं, इंगलैंड में नहीं। जिराफ अफ्रीका में और कंगारु आस्ट्रेलिया में ही होते हैं। आस्ट्रेलिया का जलवायु अनुकूल होने पर भी पहले वहां खरगोश नहीं होते थे। जब यूरोप वाले ले गये तो होने लग गये। यदि अमीबा से ही सबकी उत्पत्ति होती तो सर्वत्र सब प्रकार के पशु - पक्षी लगभग एक ही कालखण्ड में हो जाने चाहिए थे।

मनुष्य को छोडकर जितने प्राणी हैं उनमें किसी के भी बालों में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। गाय, घोडा, हाथी आदि जिस रंग के बालों के साथ पैदा होते हैं, आजीवन उसी रंग के रहते हैं। मनुष्य के निकटतम आने वाले बन्दर और वनमानुष भी सदा एक ही रंग के रहते हैं। परन्तु मनुष्य अपने जीवनकाल में प्राय: चार बार रंग बदलता है। किस परिस्थिति के कारण अथवा किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा होता है ? उसका बस चलें तो कभी अपने बालों को श्वेत या पिंगल न होने दे।

घ्राण शक्ति कितने काम की है। प्राणिमात्र के लिए उसकी उपयोगिता निर्विवाद है। घ्राणशक्ति की उपयोगिता के कारण मनुष्य चोरों और हत्यारों को खोजने में सहायता के लिए कुत्ते पर आश्रित है। विकासक्रम में उसने अपनी इस शक्ति को क्यों और किन परिस्थितियों में गवां दिया ?

राजस्थान में पीने के लिए पानी की बडी विकट समस्या है। वहां रहने वाली भैंसों को तैरने का अभ्यास करने के लिए नदी - सरोवर कहां मिलेंगे।

फिर भी वहां रहने वाली भैंस तैरना नहीं भूली । पानी में प्रवेश करने का अवसर पाते ही तैरने लगेगी ।

चूहों की दुम काट - काट कर बिना दुम के चूहे पैदा करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु अनेक पीढियों तक परिश्रम करते रहने पर भी सफलता नहीं मिली । हिन्दुओं में लाखों वर्षों से लडके - लडकियों के नाक - कान छिदते चले आते हैं, यहूदियों और मुसलमानों में तीन हजार वर्ष से खतना कराते चले आ रहे हैं और न जाने कब से चीन की स्त्रियां अपने पांव छोटे करने के लिए प्रयत्नशील रही हैं । किन्तु आज तक न हिन्दुओं में कोई बालक छिदे - छिदाये कानों के साथ पैदा हुआ, न मुसलमानों व यहूदियों में खतना के साथ और न चीन में कोई स्त्री छोटे पैरों वाली पैदा हुई ।

यदि आवश्यकता की पूर्त्यर्थ ही प्राणी अपने अंगों का विकास करता तथा तदनुसार अपनी आकृति ग्रहण करता रहता है तो नरों के स्तन किस लिए हैं । क्या कभी वे भी गर्भ धारण करते और बच्चों को दूध पिलाते थे । इसी प्रकार अजा के गल स्तनों और किसी - किसी मनुष्य की छठी अंगुली का क्या प्रयोजन है ? भेडे के सींग क्यों आ जाते हैं ? इन सब बातों से विकासवाद के विशिष्टावशिष्ट अंगों की कल्पना मिथ्या सिद्ध होती है ।

जिस उडने की अधूरी विद्या से मनुष्य कृतार्थ हो रहा है, उसे पाकर भी पक्षियों ने क्यों खो दिया ? क्या अब उनका कोई शत्रु नहीं रहा ? क्या सोचकर उन्होंने अपने परों को नष्ट करके धरती पर विचरने वाले पशुओं का रूप धारण कर लिया ? कौवे को क्या अपनी कांव - कांव अच्छी लगती होगी? क्या उसे कोयल से ईर्ष्या नहीं होती होगी ? पर क्या वह अपनी आवाज को मीठी बना पाया ?

चींटी के प्रथम तो मस्तिष्क होता ही नहीं । होता भी होगा तो मनुष्य तो क्या; अनेकानेक अन्य पशु - पक्षी की तुलना में कितना बडा होगा । किन्तु विकासक्रम में अत्यधिक निम्न स्तर का प्राणी होने पर भी उसके बुद्धि कौशल और दूरदर्शिता को देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पडती है । चींटी को आसन्न भविष्य में होने वाली वर्षा का और कुत्ते को संभावित भूकम्प आदि का आभास कैसे हो जाता है ?

यदि भिन्न - भिन्न जातियों के संयोग से सन्तान होती भी है तो वह सन्तान बांझ होती है । उससे सन्तति - अनुसंतति का क्रम नहीं चलता । गधे और घोडे के संयोग से खच्चर उत्पन्न होता है । परन्तु खच्चर से सन्तति - अनुसन्तति का क्रम नहीं चलता । व्याघ्र और सिंह के परस्पर समागम से सन्तति हो जाती है जिसे Tigon (Tiger + lion) कहते हैं । भेडिये और कुत्ते के मेल से भी सन्तति होती है । शिकारी लोग इस प्रकार पैदा हुए कुत्तों को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि उनमें कुत्ते की सी स्वामिभक्ति और भेडिये

की सी शक्ति तथा क्रूरता होती है। प्रस्तुत उदाहरणों में जिन दो भिन्न जातियों के मिश्रण से सन्तान होती है, वस्तुत: वे दो भिन्न जातियां न होकर एक ही जाति के विभक्त प्राणी होते हैं। उनका उद्गम स्थान एक ही होता है। किन्तु इनसे उत्पन्न सन्तान से वंश - परम्परा नहीं चलती। आगे चलकर यह मिश्र मिश्र योनिज जाति मूल जाति के रूप की हो जाती है। अर्थात् धीरे - धीरे वह व्याघ्र की अथवा सिंह की शक्ल की हो जाती है। कलमी आम की गुठली बोने से वृक्ष पैदा होता है और उसपर फल भी लगते हैं। परन्तु इस प्रकार का कलमी आम धीरे - धीरे छोटा होता हुआ तुखमी आम के आकार का हो जाता है। विकास की खूबी तो अलग जाति उत्पन्न करके वंश परम्परा चलाने में है। प्रतिकूल परिस्थितियों में कोई जाति नष्ट भले ही हो जाये, पर उसमें ऐसा असाधारण परिवर्तन नहीं हो सकता जो उसकी नैसर्गिक जाति को बदल कर उसे कुछ का कुछ बना दे। इसलिए मनुष्य मछली आदि का विकसित रूप नहीं है, वह अनादि काल से मनुष्य के रूप में जन्म लेता रहा है।

जन्म

परमेश्वर ने सृष्टि की रचना जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग की प्राप्ति के साधनरूप में की है। **'भोगायतनं शरीरम्'** कर्मफल का भोग शरीर के बिना नहीं होता और जब तक कर्मफल भोग न लिया जाये तब तक उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। जीव जो कर्म करते हैं उनके फल की प्राप्ति के हेतु उनमें एक प्रकार के संस्कार या बीजशक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उनको उन कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। जैसे भूमि में बोया हुआ बीज प्राकृतिक नियमों द्वारा वृक्षरूप होता हुआ कालान्तर में फल लाता है, इसी प्रकार कर्मों से उत्पन्न हुआ अदृष्टरूपी बीज ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार कालान्तर में सुख - दु:खरूपी फलों को प्राप्त कराता है।

प्राणी कर्म तो स्वतन्त्रता से करता है, पर उनके फलों को उस अवस्था में भोगना नहीं चाहता जब वे उसके प्रतिकूल हों। कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में अथवा मनुष्य योनि में भी किसी दरिद्र के घर जन्म न लेता। यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी, जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय न्याय - व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करें। कर्मफल अवश्यंभावी है। किन्तु जड होने के कारण कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई मिलाने वाला दूध और खटाई से अतिरिक्त तीसरा होता है। अचेतन होने से कर्म तो फलकाल में यह भी नहीं पहचान सकेंगे कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध होने से कर्मसंकर हो जायेगा। फलत: अन्य के कर्म अन्य को भोगने पडेंगे।

अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मो को यथावत् जान नहीं सकता और अल्पशक्ति होने से अनन्त जीवों के अनन्त कर्मो का लेखा - जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करने वाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह उन सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके जो प्रत्येक जीव के भोग के लिए अपेक्षित है। सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों और अनेक योनियों तक जाता है। यह सब व्यवस्था किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सत्ता के नियमन तथा निर्देश के बिना संभव नहीं। यदि कोई जीवविशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं - जन्म, मंरण, वृद्धावस्था, रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को न बनाता। कोई भी स्वतंन्त्र व्यक्ति अपने लिए कारागार बनकर उसमें अपने आप नहीं जा
बैठेगा।

न हि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मन: कृत्वाऽनुप्रविशति । शांकरभाष्य २।१।२१

Cp. Descarte : "If I were myself the author of my being, I shoud have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea and I shoud thus be god. - Meditations, P.iii

इसलिए यह व्यवस्था ईश्वर के कार्यक्षेत्र में आ जाती है। वही प्राणियों के कर्मफल प्रदान का नियन्ता है। नानाविध कर्मो के यथायोग्य उपभोग के लिए उन्हीं के अनुसार जगत् की विविधता प्रकट होती और उपयोग में आती है। जगत् की रचना प्राणियों के लिए है, इसलिए परमात्मा ऐसी सृष्टि की रचना है जो उनके अनुकूल हो। परन्तु इस अनुकूलता का नियमन उनके कर्मो के आधार पर होता है। वर्षा से पौधों के बढने में सहायता मिलती है किन्तु बढकर वे क्या बनेंगे, यह वर्षा पर नहीं, अपितु बीज की प्रकृति पर निर्भर करता है। धरती, खाद - पानी और जलवायु समान होने पर भी गन्ने से गन्ना, मिर्च से मिर्च और आम से आम पैदा होते हैं। उसी प्रकार नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता का निर्णय जीवों के पूर्वजन्मों के नैतिक गुणों के आधार पर होता है।

योनियां

तीन प्रकार की योनियां हैं - कर्मयोनि, भोगयोनि तथा उभययोनि। कर्मयोनि में उन जीवों का जन्म होता है जिनके पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मो का विपाक नहीं होता। वे केवल भविष्य के लिए कर्म करते हैं। भोगयोनि में जीव केवल पूर्वकृत कर्मो का फल भोगने के लिए आता है। उभययोनि में जीव

पूर्वकृत कर्मो का फल भोगने के साथ - साथ भविष्य के लिए कर्म भी करता रहता है। यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है। प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि में भी कुछ कर्म अवश्य करता है, क्योंकि कर्म के बिना तो भोग भी संपन्न नहीं होता। किन्तु विधि - निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि में किये गये कर्मो से फलोत्पादक संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होते। इसलिए ऐसे कर्मो का कोई महत्व नहीं होता। इसी प्रकार कर्मयोनि में भी भोग होता है, क्योंकि देहरक्षा के लिए उपयुक्त खान - पान, वस्त्र आदि की व्यवस्था तो करनी ही पडती है। किन्तु यह भोग कर्मविपाक के रुप में नहीं होता। अत: जो देह मुख्य रूप से जिस लिए मिलता है, उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। पूर्वकृत कर्मो के फलोपयोग के साथ जहां ऐसे कर्मो का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, संस्कार आदि को जन्म देने के कारण आगे भोग को प्रस्तुत करते हैं, वह उभययोनि कहाती है।

कर्म शेष न रहने से मुक्तात्माएं सृष्टि के आदि में प्रकट होने वाले वेद प्रवक्ता ऋषियों तथा अन्य देव कोटि के पुरुषों के रुप में कर्मयोनि में जन्म लेती हैं। अयोनिज होने के कारण उन्हें गर्भवासादि का कष्ट भी नहीं सहना पडता। पशु - पक्षी, कृमि, कीट, पतंग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं। जीवनयापन के लिए उन्हें कुछ न कुछ करना पडता है। परन्तु उनके ये कर्म मात्र नैसर्गिक क्रियायें हैं। उनका विपाक नहीं होता।

किन्तु सामान्य मनुष्य उभययोनि हैं। यही एक ऐसी योनि है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है। इसीलिए अन्य योनियों में पाप - पुण्य के फल भोगकर बार - बार इस योनि में आता है। इसी योनि में रहता हुआ जीव संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीनों प्रकार के कर्मो का निष्पादन संभव है। इसी में **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** सार्थक होता है। मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वोत्कृष्ट योनि माना जाता है। पाप - पुण्य केवल मनुष्य योनि में ही संभव है।

जीवनकाल में अधर्म से धर्म अधिक होने पर देवों का शरीर मिलता है। जिनकी मानसिक स्थिति सात्विक होती है और इस कारण जिनका पाप कम और पुण्य अधिक होता है उन्हें देवों **(विद्वांसो हि देवा:)** का शरीर मिलता है। यह शरीर उन वीतराग पुरुषों का समझना चाहिए जो फल की आशा छोडकर कर्म का अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं। इस भावना से कार्य करने वाले यतियों, ब्रह्मचारियों तथा ऐश्वरी सृष्टि में जन्म लेनेवाले ऋषियों का इस कोटि में समावेष समझना चाहिए।

जब इसी जन्म में पाप - पुण्य बराबर हों तो सीधे और जब पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हों अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों तो यथास्थिति उन्हें देवों अथवा पश्वादि के शरीरों में भोगकर जब पाप - पुण्य बराबर हो

जायें तो फिर साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। इसमें भी पाप - पुण्य के उत्तम - मध्यम - निकृष्ट होने से मनुष्य योनि में भी उत्तम - मध्यम - निकृष्ट शरीर मिलता है। उभय योनि होने से इस देह में रहकर जीव पूर्वकृत कर्मों के फलों को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानों में तत्पर रहता है।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप का आधिक्य हो तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि का शरीर मिलता है। यहां भी पापों की निकृष्टता की अपेक्षा से न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरों की व्यवस्था है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही ऐसा शरीर मिलता है। इसमें रहते हुए जीव यत्किंचित् जो कर्म करता है, वह केवल भोग संपादन के लिए होता है। उससे किसी प्रकार के संस्कार उत्पन्न न होने से आगे चलकर उसका विपाक नहीं होगा।

मिश्र देश की गुफाओं में मिले शिला लेखों में एक शिलालेख में लिखा है -

" ईश्वर और मनुष्य में इतना अन्तर है कि एक अर्थात् मनुष्य जन्म - मरण के चक्कर में फंसता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर नहीं। (इस कथन में वेदोक्त **'तपोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'** का भाव स्पष्ट है।) पुनर्जन्म के चक्कर में फंसी आत्माएं कीट, मत्स्य, पशु, पक्षी तथा मनुष्य के क्रम में से गुजरती हैं तथा विपरीत क्रम में भी जन्म लेती हैं। पापी आत्माओं को पाप का फल भोगने के लिए पशु जन्म मिलता है। "

अंग्रेजी में एक कहावत है - "Man on earth is god subject to death while god is man in heaven free from death."

अर्थात् मनुष्य धरती पर जन्म - मरण के चक्कर में फंसा हुआ ईश्वर है और ईश्वर स्वर्ग में इस चक्र से मुक्त मनुष्य है। ईश्वर और जीव के भेद की यह काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य में, स्त्री का पुरुष में और पुरुष का स्त्री में आता जाता रहता है। अतिशय पाप करने पर स्थावरों (वृक्षादि) का शरीर मिलता है। मनुस्मृति आदि शास्त्रों से यह प्रामाणित है कि कर्मादि के अनुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर भी मिल सकता है। मनुस्मृति (१२।१) में लिखा है -' **शरीरजैर्कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर:** ' अर्थात् शरीर द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१।२१।१) में ' **वीरुध: प्राणन्ति** ' कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (८।७।६) तथा छान्दोग्य (६।११।३) में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं।

जन्म कैसे

आत्मा का शरीर से संयुक्त होना जन्म कहाता है और उसका शरीर से

वियुक्त होना मृत्यु। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।८) में लिखा है - **"स वा अयं पुरुषो जायमान: शरीरमभिसंपद्यमान: स उत्क्रामन् म्रियमाण:।"** अर्थात् जब वह जीवात्मा पुरुष शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब वह शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहाता है। इस प्रकार जीवात्मा में जन्म मरण का व्यवहार देह से संयोग - वियोग के आधार पर होता है।

मरणोपरान्त जब शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वाचु में चला जाता है -' **सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा** ' **(ऋ. १०।१६।१)** फलोपभोग के कारण प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर संचित में से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है। इस प्रकार पूर्वजन्मों में किये पाप - पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से मुक्त आत्मा, पूर्व शरीर को छोडकर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य में प्रविष्ट हो जाता है। तदनन्तर ईश्वर की प्रेरणा से स्त्री की योनि के द्वारा वह गर्भाशय में स्थित हो जाता है और दस मास तक (ऋ.५।७८।८-९; अथर्व.१।११।६) वहां पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। स्त्री के गर्भाशय में किस दिन आत्मा का शरीर से संयोग हुआ, प्राय:इसका पता चलना कठिन है। इसलिए व्यवहार में शरीर के गर्भाशय से बाहर आने को ही जन्म लेना कहा जाता है। शरीर से संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है -

दश मासाञ्छशयान:कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि ।।५।७८।९।।

दस मास तक माता के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से निकले। इससे पहले मन्त्र में **'दशमास्य: अवेहि'** कहा है। अथर्ववेद (१।११।६) में **'दशमास्य: अवपद्यताम्'** लिखा है। यहां सर्वत्र बालक के माता के गर्भ में दश मास तक रहने का उल्लेख हुआ है, जबकि लोकव्यवहार में सदा 'नौमास' का व्यवहार होता है। इसलिए वेद में आये **'दश मासान्'** आदि का अर्थ **'दशमे मासि'** करना उपयुक्त है। रघुवंश में रघु के जन्म के सन्दर्भ में उसके समय पर (काले) उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। सभी टिकाकारों ने **'काले'** का अर्थ **'दशमे मासि'** ही किया है।

रज और वीर्य के मिश्रण के बिना गर्भस्थिति संभव नहीं और इस मिश्रण के लिए नर और मादा का समागम आवश्यक है - परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष में। वीर्य बैंक और परखनली आदि उसी प्रकिया के रूप हैं। ईश्वर या दैवी चमत्कार के नाम पर (ईसा और कुन्ती की सन्तानों के जन्म की तरह) स्त्री-पुरुष के समागम के बिना होने वाली सन्तानें वस्तुत: अवैध होती हैं अथवा किसी

वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा उपलब्ध रज-वीर्य के मिश्रण के द्वारा उत्पन्न होती हैं ।

सृष्टि के आदि में समस्त सृष्टि अमैथुनी होती है - अर्थात् नर-नारी के परस्पर सहयोग के बिना ही जीव शरीर धारण करते हैं । इस प्रकार की देह रचना 'अयोनिज' कहाती है, क्योंकि उसमें योनि का प्रयोग नहीं होता । इसी को ऐश्वरी सृष्टि कहते हैं, क्योंकि उस समय सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में केवल ईश्वर विद्यमान रहता है । प्राकृत व्यवस्था के अनुसार रज-वीर्य के मूल तत्व किसी विशिष्ट खोल आदि में संकलित हो जाते हैं और उनमें शरीर रचना आरम्भ हो जाती है । कालान्तर में देह के परिपुष्ट हो जाने पर वे खोल फट जाते हैं और बने बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं । सृष्टि के आदि में मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर मानव शरीर धारण करने वाले जीवों, उत्कृष्ट धर्मविशेष का पालन करने वाले ऋषि मुनियों तथा अन्य समस्त प्राणियों की उत्पत्ति इसी प्रकार अयोनिज शरीरों के रूप में होती है ।

इस प्रक्रिया को एक वृक्ष के उदाहरण के रूप में समझना आसान होगा । बिना बीज के वृक्ष नहीं होता, इसे सब स्वीकार करते हैं और बीज पेड पर उत्पन होते और आगे होने वाले पेडों को उत्पन्न करते हैं । परन्तु सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न पेड का बीज कहां से आया ? वस्तुत: जिन तत्वों से बीज का निर्माण होता है वे प्रकृति में सदा विद्यमान हैं । वे भौतिक तत्व एक खोल के भीतर प्रकृति गर्भ में पोषण पाते रहे और पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो अनुकूल अंकुर के रूप में प्रस्फुटित हुए । इस प्रकार सबसे पहले उत्पन्न होने वाले किसी भी वृक्ष के बीज का निर्माण प्रकृति के गर्भ में ईश्वर द्वारा निर्धारित नियम व व्यवस्था के अनुसार स्वत: हुआ । ईश्वरीय व्यवस्था में निर्मित बीज की बनावट वैसी रही होगी जैसी हमें उस वृक्ष विशेष से उत्पन्न होने वाले बीजों की आज दीख पडती है । वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा ट्यूब में मानव शरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है । कृत्रिम गर्भाधान (artificial insemination) भी अंशत: उसी का अंग है ।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सृष्टि चाहे मैथुनी हो चाहे अमैथुनी - प्राणियों के शरीरों की रचना परमेश्वर सदा माता-पिता द्वारा करता है । दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आदि सृष्टि में माता यह पृथिवी होती है और वीर्य संस्थापक सूर्य । ऋग्वेद (१।१६४।१३) में कहा है - **"द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम् ।"** अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में प्राणियों के शरीरों का उत्पादक पिता रूप में सूर्य था और माता के रूप में यह विशाल पृथिवी थी । जैसे इस समय बालक माता के गर्भ जरायु में पडा माता के आहार में से रस लेकर बनता और विकसित होता है, वैसे ही आदि सृष्टि में पृथिवी रूपी माता

के रूप में बनता रहता है। जैसे-जैसे गर्भ बढता है, वैसे-वैसे भूमि की मिट्टी संकुचित होकर उसे अधिकाधिक सन्तान देती रहती है।

विवाह संस्कार में पाणिग्रहण की विधि के पश्चात् वर-वधू एक मन्त्र पढते हैं - **"द्यौरहं पृथिवी त्वम् तावेव विवहावहै —प्रजां प्रजनयावहै "** - पति अपनी पत्नि को कहता है कि 'तू पृथिवी के समान है और मैं द्यौ: अर्थात् सूर्य के समान हूँ। हम दोनों मिलकर उत्तम सन्तान को उत्पन्न करें।' इस प्रसंग में गीता के उन दो श्लोकों काउद्धृत किया जाता है जिनमें कहा गया है कि **'महद् ब्रह्म'** (प्रकृति) मेरी योनि है और मैं उसमें गर्भ धारण कराता हूँ। फिर उसमें समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो योनियों में जो मूर्त्तियां जन्म लेती हैं, उनकी योनि महद् ब्रहन (प्रकृति) है और मैं उसमें बीज डालने वाला पिता हूं' -

ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तय: संभवन्ति या: ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता ।।गीता.१४।३,४

गीता को उपनिषदों का सार कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में (२।१।५) आलंकारिक रूप में वर्णन करते हुए कहा है -

पुमान् रेत: सिञ्चति योषितायां बह्वी: प्रजा: पुरुषात् सम्प्रसूता: ।

अर्थात् पुमान् (परमात्मा) योषित् (प्रकृति) में रेत: सिंचन करता है और इस प्रकार ब्रह्म पुरुष से समस्त प्रजा उत्पन्न होती है। जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना ही योषित् में परमात्मा का रेत: सिंचन करना है। उपनिषद् के इस सन्दर्भ से गीता का आशय स्पष्ट हो जाता है।

अद्वैतपरक समझे जाने वाले गीता के उपर्युक्त श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकारण के रूप में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख है। पिता के रूप में बीज डालने वाला ब्रह्म निमित्तकारण है और जिसमें वह बीज डालता अथवा गर्भ धारण कराता है, उसके रूप में प्रकृति उपादानकारण है।'ब्रह्म' पद वेद में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है -'ज्येष्ठ ब्रह्म' से परमात्मा, 'इदं ब्रह्म' से जीवात्मा तथा 'महद् ब्रह्म' से प्रकृति का बोध होता है। प्रकरणानुसार अर्थ 'का निर्धारण होता है। तात्स्थ्योपाधि से परमात्मा के प्रतिनिधिरूप श्रीकृष्ण गीता के कविनिबद्ध वक्ता हैं। अतएव 'अहम्' पद से यहां परमात्मा अभिप्रेत है जो पितृरूप में कथन किया गया है।

आदि सृष्टि में जो कार्य जीव से अतिरिक्त होता है, सर्गकाल में वह नर-मादा के संयोग स्वयं प्राणियों द्वारा होता है। आरम्भ में सांचा बनाना कठिन होता है। सांचा तैयार होने पर उसके अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। आदिसृष्टि में अनेकानेक शरीरों के रूप में सांचे

बनाना ईश्वर का काम था । तदनन्तर इन सांचों में ढाल-ढाल कर नित नये शरीर बनाते रहना जीवों का काम है ।

आदिकाल में जन्म युवावस्थामें - बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन-पोषण के लिए अन्य समर्थ प्राणियों की अपेक्षा होती । किन्तु अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होने के कारण उनसे पहले किसी अन्य के होने का प्रश्न नहीं उठता । दस मास तक माता के गर्भ में संवर्धित होकर जन्म लेने के बाद भी मानव शिशु इतना असहाय होता है कि वह स्वत: अपना पालन-पोषण एवं संरक्षण करने में सर्वथा असमर्थ रहता है । यह समस्या अन्य प्राणियों के लिए भी बहुत कुछ ऐसी ही है । यदि वृद्धावस्था में प्राणी का जन्म हो तो वह आगे मैथुनी सृष्टि में साजत्य प्रजनन में असमर्थ होगा । अत: आदि सृष्टि में प्राणी का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में संभव है जब नर अपने पोषण-रक्षण के लिए परापेक्षी न हो तथा मैथुनी सृष्टि के नियमानुसार सजातीय प्रजनन में समर्थ हो । जहां तक मानव की उत्पति का संबन्ध है, यह अवस्था २०-२२ वर्ष की अवस्था के आसपास की सी होनी चाहिए । आज के वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानते हैं । बोस्टन नगर की स्मिथ सोनियन यूनिवर्सिटी के जीव विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डॉ. क्लार्क के अनुसार पहले मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में हुआ जब वह चल सकता था, बोल सकता था, सोच सकता था और अपनी रक्षा कर सकता था - " Man appeared able to walk, talk, think and defend himself."

सृष्टि के आरम्भ में सभी प्राणियों के अनेक जोडे (नर-मादा) उत्पन्न हुए थे । इसलिए यह कहना गलत होगा कि समस्त मनुष्य एक ही माता पिता के वंशज हैं । अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही नियम है ।

जीवन

जीवन के विषय में वेद ने तीन बातों का निर्देश किया है -

१. **जिजीविषेच्छतं समा:** - सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो ।

२. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** - कर्म करते हुए ही (जीने की इच्छा करो) ।

३. **त्यक्तेन भुञ्जीथा** - (जब तक जियो तब तक) त्यागपूर्वक भोग करो ।

१-सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो । इच्छा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपनी आयु को घटाना-बढाना बहुत हद तक मनुष्य के अपने हाथ में है। यदि ऐसा न हो अर्थात् आयु की अवधि नियत हो तो सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना और उस इच्छा की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है । जो निश्चित है वह होकर रहेगा - उसे कोई मिटा नहीं सकता । और यदि आयु निश्चित नहीं है तो अकाल मृत्यु का क्या अर्थ है ? आयुर्वेद शास्त्र के प्रणेता महर्षि चरक ने इस विषय में विस्तार से विचार किया है । अन्तिम निष्कर्ष के रूप में उन्होंने अपनी 'चरक संहिता' विमानस्थान अध्याय ३ में लिखा है -

काल - अकाल मृत्यु का विषय सदा से विवाद का विषय रहा है। आज तक इसका निर्णय नहीं हो पाया। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से महर्षि चरक का निर्णय सर्वथा उपादेय है। एतद् द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मनुष्य के लिए पूरी तरह कल्याणकारी है।

सामान्यरूप से **'जानुषातो मृत्युपर्यन्तमायुष्यम्'** - जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जितना काल है, उसे 'आयु' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार किसी प्राणी की आयु का निश्चय मरने के बाद ही हो सकता है, जीते जी नहीं। इसलिए जीवित व्यक्ति से उसकी आयु नहीं पूछी जा सकती। 'आपकी आयु क्या या कितनी है ?' यह प्रश्न असंगत है। 'आयु' के स्थान पर 'अवस्था' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। चरक संहिता में दो स्थलों में आयु शब्द आया है -

१. शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारिजीवितम् । नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ।। सूत्रस्थान १।४२

अर्थात् - शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग आयु कहाता है। धारि, जीवितम्, नित्यग: और अनुबन्ध इसके पर्याय हैं।

२. 'आयुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थ: (सूत्रस्थान ३०।२२)

अर्थात् - आयु, चेतनानुवृत्ति, जीवितम्, अनुबन्ध और धारि - ये सब समानार्थक हैं। आयु की इयत्ता के विषय में भगवान् मनु का कथन है -

'वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम्' - अर्थात् मनुष्य की सामान्य आयु उतनी जाननी चाहिए जितनी वेद में कही है। वैदिक साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध वचनों में इस प्रसंग में 'सौ वर्ष' का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ -

१. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: । यजु. ४०।२**

२. **तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शत्ँ श्रृणुयाम शरद: शतं प्रब्रवाम शरद: शतमदीना: स्याम शरद: शतं भूयश्च शरद: शतात् ।। यजु. ३६।२४**['भूयश्च शरद: शतात्' = भूय: शताच्छरद: शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकम् = सौ वर्ष से उपरान्त भी-(पञ्चमहायज्ञविधि:) ।पदार्थ-(शतात् शरद:)सौ वर्ष से (भूय:) अधिक भी ।भावार्थ-सौ वर्ष से भी अधिक जीवें-(यजुर्भाष्य) ।]

३. **शतायुर्वै पुरुष:। - ऐतरेय ब्राह्मण** ४. **जरां गच्छ परिधत्स्व वास: — शतं च जीव शरद: सुवर्चा । - पार. गृह्यसूत्र १।४।१२** ५. **शतञ्च जीवामि शरद: पुरूची: ।- पार. गृह्यसूत्र २।६।२०** ६. **इमं जीवेभ्य: परिधिं दधामि — शतं जीवन्तु शरद: पुरूची: । - यजु. ३५।१५**

७. छान्दोग्य उपनिषद् में पुरुष में यज्ञ का आरोप करके उपसंहार में उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताने से उस यज्ञ के तत्वविद् महीदासद ११६ वर्ष की आयु का उल्लेख हुआ है -**'प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद। '** [१]

निघण्टु में 'शतम्' का अर्थ बहुत अथवा अनेक लिखा है - 'शतं बहुनाम' (३।१)। सायणाचार्य ने ऋग्वेद ८।१।५ का भाष्य करते हुए लिखा है - '**शतायु बहुनामेतत् अपरिमिताय।**' उव्वट के अनुसार शत शब्द असंख्य का वाचक है - '**शतशब्दोऽसंख्यातविषय:**' (**यजु. १२।८**)। यजु. ४०।२ का भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है - '**शतं समा: इत्युपलक्षणार्थम्। यावदायु: पर्यवसानभित्यर्थ:।**' कतिपय विद्वानों के मत में शत शब्द मध्यम संख्यावाचक होने से समीपस्थ संख्या का भी ग्राहक है, किन्तु इसे सहस्त्रों तक नहीं खींचा जा सकता। मीमांसासूत्र 'नासामर्थ्यात्' (६।७।३२) के भाष्य में कहा गया है - '**न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्त्रसंवत्सरं जीवेयु: — कुत: ? 'शतायुर्वै पुरुष: इत्यनुवाद:।**'

वस्तुत: सामान्य रूप से मनुष्य सौ वर्ष आयु वाला होता है। अपने उत्तम-निकृष्ट आचार व्यवहार से वह उसे बढा-घटा सकता है। यदि ऐसा संभव न होता तो 'भूयश्च शरद: शतात्'[1] की प्रार्थना करना व्यर्थ होता। मनुष्य को जन्म के समय प्रकृति की देन के रूप में जो शरीर मिलता है, यदि वह रोग, चिन्ता वा आकस्मिक घटना का शिकार न हो जाये तो उसकी साधारण अवधि सौ वर्ष मानी जाती है। जो सौ वर्ष से अधिक जीता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। यहां सौ या सहस्त्र उपलक्षणमात्र है। तात्पर्य अधिक से अधिक काल तक जीने का प्रयास करने से है। यजुर्वेद (३।६२) का प्रसिद्ध मन्त्र है -

त्र्यायुषं जमदग्ने: कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥

इस मन्त्र के आधार पर ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है - '**ब्रह्मचर्यादि नियमेन मनुष्यैरतत् त्रिगुणमायु: कर्त्तुं शक्यमितीति गम्यते**' अर्थात् मनुष्य ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करने से त्रिगुण-चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

इच्छा सदा अप्राप्त वस्तु की होती है और बिना प्रयत्न के उसकी प्राप्ति नहीं होती। प्रयत्न भी उसी के लिए होता है जो संभव हो। सौ वर्ष जीने की इच्छा का निर्देश ईश्वर ने किया है। यदि आयु की इयत्ता उसकी ओर से निर्धारित है और जीव में उसे घटाने-बढाने का सामर्थ्य नहीं है तो ईश्वर की ओर से एतद्विषयक निर्देश दिये जाने की क्या सार्थकता है ? वेद में अनेकत्र ऐसे मन्त्र हैं जिनमें बार-बार मनुष्य को अपनी आयु बढाने का निर्देश परमेश्वर की ओर से दिया गया है। अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ -

---

१. 'पुरुषो वाव यज्ञ:' इत्युपक्रम्य पुरुषस्य षोडशोपेतं शतवर्षमायु: परिगणितम्। भूयसी: शरद: शतात् ।अथर्ववेद १९।६७।८
यो वै शतादूर्ध्वं जीवति स अमृतत्मश्नुते। शतपथ

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन: ।
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशोबलम् ।। मनु. २।२१
आचाराल्लभते ह्ययुराचारादीप्सिता: प्रजा: ।। मनु. ४।१५६
दुराचारी हि पुरुषो लोक भवति निन्दित: ।
दु:खभागी च सततं व्याधितोऽल्यामुरेव च ।। मनु. १।१५७

भगवान् आत्रेय चरकसंहिता में लिखते हैं - '**द्विविधातु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश ! प्राणानां ह्येके अभिसरा: हन्तारो रोगाणां ह्यके अभिसरो हन्तार: प्राणानामिति** ।'अर्थात् - हे अग्निवेश ! दो प्रकार के वैद्य होते हैं । एक तो प्राणों को प्राप्त करने वाले और रोगों को मारने वाले और दूसरे वे जो रोगों को लाने वाले और प्राणों को हरने वाले होते हैं ।' अन्तत: अग्निवेश ने सीधा प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आयु का प्रमाण नियत है वा नहीं ? भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्निवेश ! इस संसार में प्राणियों की आयु मुक्ति की अपेक्षा करती है । यह बात निश्चित है कि मनुष्य का जीवन हितकारी आचरण तथा चिकित्सा पर निर्भर है । इसके विपरीत चिकित्सा न होने पर मृत्यु निश्चित है । देशकाल और आत्मविपरीत कर्म तथा आहार- विहार सम्बन्धी विकारों से भी अकालमृत्यु होती है । यदि आयु के काल का प्रमाण नियत है तो दीर्घजीवन की इच्छा करने वालों के लिए होम, नियम, उपवास आदि इष्ट क्रियाओं का कुछ प्रयोजन नहीं है । शत्रुसमूह, अग्नि तथा अनेक प्रकार के विषैले सर्प आदि से बचने की कोई आवयकता नहीं, क्योंकि जब्र आयु का प्रमाण निश्चित है तो इनसे क्या भय ? यह सुनकर अग्निवेश बोला कि हे भगवन् ! जब आयु के काल का प्रमाण अनियत है तो कालमृत्यु और अकालमृत्यु किस तरह होती है ? तब भगवान् आत्रेय ने समझाया -

जैसे रथ में लगा हुआ धुरा प्रकृत अक्षगुणों से युक्त और सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समय पाकर अपने प्रमाण की क्षीणता अर्थात् घिसने से अन्त को प्राप्त हो जाता है वैसे ही शरीर की आयु भी प्रकृति के अनुसार उपचार्यमाण किये जाने पर भी अपने प्रमाण के क्षीण हो जाने से अपने अवसान को प्राप्त हो जाती है । यही मृत्यु काल मृत्यु कहाती है । और जैसे वही धुरा अत्यधिक बोझ लादने, ऊंचे - नीचे मार्ग पर चलने, चक्र मण्डल के टूट जाने, बाह्य बाह्य के दोष, अनिर्मोक्ष, पर्यवसन अथवा अन्यान्य अवयवों के टूटने से कुसमय में भंग हो जाता है, वैसे ही आयु भी बल से अधिक काम करने, अत्यधिक मैथुन करने, जठराग्नि के बल से अधिक भोजन करने, विषम भोजन करने, दुष्ट व्यवहार करने, उपस्थित वेगों के रोकने, धारणीय वेगों के धारण न करने, भूतविष अग्नि के उपताप, चोट लगने, सर्वथा भोजन न करने से बीच में ही विपत्ति आ जाती है । यही अकाल मृत्यु है ।'

एक ही स्थान से कई व्यक्ति एक जैसी बर्फ लाते हैं। घर लाकर कोई उसे आइस बाक्स (Ice Box) में रखता है, कोई भूसे में दबा देता है, कोई उसे बोरी में लपेट कर रख देता है, कोई ऐसे ही पडी रहने देता है और कोई उसे जल में डाल देता है। हम देखते हैं कि एक ही फैक्टरी से एक ही सिल्ली में से लाई गई बर्फ के पिघलने का समय अलग-अलग होता है,क्योंकि बर्फ के रख-रखाव में अन्तर होने से उसके पिघलने की गति में अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार शरीर के रख-रखाव, सदुपयोग-दुरुपयोग आदि के कारण उसकी आयु में अन्तर हो जाता है।

सामान्यत: आजकल संसार के भिन्न-भिन्न देशों में मनुष्यों की औसत आयु २५-३५ से लेकर ६०-६५ वर्षों तक है। वेद में सौ वर्ष की आयु का अनेकत्र निर्देश होने से इतना तो स्पष्ट है कि सौ वर्ष की आयु पाना कोई कोई अनहोनी बात नहीं है। मिस्त्र देश में मूसा के समय मनुष्य की औसत आयु ७० वर्ष मानी जाती थी। परन्तु भारत में ये औसत ७० से कहीं अधिक थी। वात्स्यायन के अनुसार **'आषोडशात् सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम्'** - १६ से ७० वर्ष तक यौवन की अवधि है। ७० के बाद बुढापा शुरु होता था। विदेशी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार १३०० ईसवी तक हमारे देश में कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग थे जिनकी औसत आयु १५० वर्ष से ऊपर होती थी। मार्को पोलो ने, जो इस देश में १२८० ईसवी में आये और जिसने अपनी यात्रा का विवरण १३०० ईसवी में लिखा, बताया है -

"All Brahmanas come from that country on the west. They are best merchants and most truthful. They eat no flesh and drink no wine and lead a life of chastity.They wear a thread of cotton on the shoulders which crosses the breast and the back. They are long lived and have capital teeth owing to a certaion herb they chew. There are other Brahmans called "jogi" who are longer - lived. They live upto 150 or even 200 years. They eat rice and milk only. They drink a potion of sulpher and quick silver twice a day which leads to longerity. They fast many days and drink nothing but water. They sleep on the ground and yet live long."- History of Medieval Hindu India by C. V. Vaidya, Vol iii, P. 383

अर्थात् - सब ब्राह्मण पश्चिम प्रदेश के हैं। वे सभी व्यापारी हैं और सत्यनिष्ठ हैं। वे न मांस खाते हैं और न मदिरा पान करते हैं। अत्यन्त पवित्र जीवन बिताते हैं। वे अपने कन्धे पर पीठ और छाती से गुजरता हुआ सूती

धागा (यज्ञोपवीत) पहनते हैं। मादक द्रव्यों से दूर रहने के कारण वे दीर्घजीवी होते हैं। एक बूटी विशेष को चबाने के कारण उनके दांत बहुत पक्के हैं। ब्राह्मणों की एक जाति जोगी कहाती है जो और भी अधिक जीवी है। वे १५० से २०० वर्ष तक जीते हैं। वे केवल दूध और चावल का भोजन करते हैं। वे दिन में दो बार गन्धक और पारे का प्रयोग करते हैं जो उनके दीर्घजीवी होने में सहायक है। वे कई-कई दिन तक उपवास करते हैं और जल के सिवा कुछ ग्रहण नहीं करते। वे धरती पर सोते हैं। फिर भी दीर्घजीवी होते हैं।

परन्तु वेद ने मरते-मरते सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने का निर्देश नहीं किया। खाट पर पडे - पडे सौ वर्ष जीने की अपेक्षा स्वस्थ रहकर पचास वर्ष जीना कहीं अच्छा है। **'क्षणं ज्वलनं श्रेय: न चिरं धूमायितम्'** (महाभारत) देर तक सुलगते रहने से क्षण भर के लिए प्रज्वलित हो प्रकाश देकर बुझ जाना अच्छा है। जब रोग से शरीर गल जाता है, बुढापे के कारण सिर के बाल पक जाते हैं, मुंह में दांत नहीं रहते, न ठीक से सुनाई देता है और न दिखाई देता है और मनुष्य लाठी के सहारे चलता है, तब भी मनुष्य की जीने की इच्छा बनी रहती है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों अंग शिथिल होते जाते हैं, त्यों-त्यों तृष्णा बढती जाती है। इस रूप में जीते रहने के लिए वेद नहीं कहता। सौ वर्ष तक जीने का अर्थ है - सौ वर्ष तक देखते, सुनते, बोलते और चलते फिरते जीना -

' जीवेम शरद: शतम्, पश्येम शरद: शतम्, श्रृणुयाम शरद: शतम्, प्रब्रवाम शद: शतम्, अदीना स्याम शरद: शतम्, भूयश्च शरद: शतात् ।'

और यह देखना-सुनना भी कैसा हो, इसकी व्याख्या करते हुए यजुर्वेद (२५।११) में कहा है -

भद्रं कर्णेभि: श्रृणुयाम देवा: भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा: ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तननूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायु: ।।

अर्थात् - हम कानों से अच्छी बातें सुनें, आंखें सदा भद्र देखें और स्वस्थ अंगों से युक्त शरीर से देवों के लिए हितकर आयु व्यतीत करें।

हितायु का लक्षण करते हुए चरक संहिता में लिखा है -

" जो मनुष्य समस्त प्राणियों पर दया करता है, पराये धन का लोभ नहीं करता, जो सत्यनिष्ठ और शान्तिपरायण है, सोचविचार कर काम करने वाला है, धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गो को परस्पर अनुपहत क्रम से भोगता है, जो पूजा के योग्यों की पूजा करता है, जो ज्ञान, विज्ञान और शीलवाला है, जो वृद्धों की सेवा करता है, जिसने ईर्ष्या, राग, द्वेष, मद और मान-अपमान को पूरी तरह जीत रक्खा है। जो निरन्तर अनेक प्रकार का दान करता है, जो नित्यप्रति तपश्चर्या, ज्ञान और शान्ति में लीन है। जो अध्यात्मवेत्ता और

अध्यात्मचिन्तन में तत्पररहता है और जो इस लोक और परलोक दोनों में सुख चाहता है - ऐसे पुरुष की आयु को हितायु कहते हैं । "

- चरक संहिता, सूत्रस्थान, अध्याय ३०

कर्म करते हुए जीना

यह 'संसार' है - संसरति = निरन्तर चलता रहता है । 'जगत्' है - गति करता रहता है । मनुष्य भी इस संसार का अंग है । जब सारी मशीन चल रही हो तो ऐसा कौन सा पुर्जा है जो बिना चले रह जाये ? अकर्मण्यता काअर्थ अन्ततः ह्रास या विनाश है । ' जो पानी खडा सो सडा । मनुष्य आत्मा है - निरन्तर 'गतिवाला' (अत सातत्यगमने) है । 'प्रयत्न' आत्मा का गुण, लक्षण या लिंग (चिन्ह) है । इसलिए वह कर्म किये बिना नहीं रह सकता । कार्लाइल के शब्दों में "What is this universe, but a infinite conjugaton of verb to do'.

अर्थात् यह संसार 'कृ' (करना) धातु के विविध रूपों के सिवा कुछ नहीं है । कोई चाहे, न चाहे, जब तक प्राकृत शरीर है तब तक प्रकृति के गुणों (सत्व, रजस्, तमस्) से विवश होकर उसे कुछ न कुछ करते रहना होगा (गीता ३।५) । अनुगीता (अश्व.२।७) में यही बात इन शब्दों में कही है - **'नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमति लभ्यते'** अर्थात् लोक में किसी से घडी भर के लिए भी कर्म नहीं छूटते । जब स्थूल शरीर निश्चेष्ट रहता है तब भी सूक्ष्म शरीर कर्म में प्रवृत्त रहता है । स्पप्नावस्था में जब समस्त इन्द्रियां शिथिल होकर अपना काम छोड बैठती हैं तो मन को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है और जो काम वह जाग्रत् में नहीं कर सकता था उन्हें स्वप्न में कर डालता है । सुषुप्ति में जब मन भी शान्त हो जाता है तो प्राण काम करते रहते हैं । यदि प्राण भी हडताल कर दें तो सारी फैक्टरी बन्द हो जाती है और उसका मालिक किसी नई फैक्टरी में जाकर अपना काम करने लग जाता है । इसलिए सर्वथा निष्क्रिय होने का अर्थ है - मृत्यु । चेतन मनुष्य या प्राणियों की तो बात ही क्या, सूर्य, चन्द्रमा आदि जड पदार्थ भी निरन्तर कार्य (कर्म नहीं) करते रहते हैं । पृथिवी घूमती है, वायु चलती है, नदी बहती है, फूल खिलते हैं, बादल बरसते हैं । इस प्रकार जड-चेतन में सर्वत्र गति है । महाभारत में द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा था - **'अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न कदाचन'** (महा. वनपर्व ३२।८) अर्थात् कर्म के बिना प्राणिमात्र का निर्वाह नहीं । कर्म का त्याग करने पर तो खाने को भी नहीं मिलेगा - **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः '** (गीता ३।८) । यही कारण है कि संसार के समस्त क्रियाकलाप को मिथ्या घोषित करने वाले वेदान्ती और 'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम' की रट लगने वाले साधु भी दो रोटियों के लिए घर-घर अलख जगाते फिरते हैं ।

कार्य या कर्म सृष्टि का सार्वत्रिक नियम है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'गीतांजलि' में लिखा है 'कर्म से मुक्ति कहां है ? परमेश्वर ने स्वयं सृष्टि रचना आदि का काम सहर्ष (Joyfully) अपने ऊपर ले रखा है। वह तो सदा हमसे जुडा रहता है। तुम्हें मन्दिर के भीतरी कोने में भगवान् नहीं मिलेगा। वह तो वहां है जहां किसान हल चला रहा है या जहां सडक पर बैठा मजदूर पत्थर तोड रहा है। वह तो वर्षा और धूप में उनके साथ है। उसके कपडे धूल में भरे हैं। यदि तुम उससे मिलना चाहते हो तो अपने कीमती कपडे उतार दो और उसकी तरह धूल भरी धरती पर आ जाओ।'[१]

'परमात्मा हर समय काम में लगा रहता है। वह न्याय के दिन (Day of Judgement) तक खाली बैठने वाला नहीं है। प्रकृति के परमाणुओं में गति देता है। वह प्रकृति के परमाणुओं को गति देता है, फूलों में रंग भरता है। बीजों को अंकुरित करता है, नक्षत्रों का संचालन करता है, असंख्य प्राणियों के कर्मों का लेखा जोखा रखता और तदनुसार न्याय करता है। मेरा पिता काम में लगा रहता है, मैं भी काम में लगा रहता हूं।'[२]

वस्तुत: नित्य कर्मशील पिता की सन्तान निष्क्रिय कैसे रह सकती है ? जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है तो जगत् में रहने वाला मनुष्य उससे कैसे बच सकता है ? वेद जीवन की अन्तिम घडी तक कर्मनिष्ठ बने रहने का निर्देश करता है। सौ वर्ष के जीवन को २५-२५ वर्ष के चार भागों में विभक्त किया गया है - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। इन चारों को आश्रम के नाम से अभिहित किया गया है। इससे स्पष्ट है प्रत्येक अवस्था में श्रम अर्थात् कम

1. Where is this deliverance to be found ? Our master himself has joyfully taken upon himself the bonds of creation; he is bound with us all for ever. Whom dost thou worship in this lonely dark corner of a temple with all doors shut ? He is there where the tiller is tilling the hard ground and where the path maker is breaking stones. He is with them in sun and in shower and his garment is covered with dust. Put off thy holy mantle and even like him come down on dusty soil.

_ Rabindranath Tagore : Geetanjali

2.. God is eternally busy. He is not loafing on his throne till the day of judgement. He is directing infinite atoms of matter, paint the lilies, whirling the stars, putting up the seeds. He is maintaining the accounts of the actions of countless souls and dispensing justice accordingly. My father Worketh and I work

._ Great Thoughts, April 1934.

अनिवार्य है। चार वर्णो की तरह चारों आश्रमों के लिए भी विशिष्ट कर्मों का विधान है। जब संन्यास में कर्म के त्याग की बात कही जाती है तो वहां कर्ममात्र का त्याग अभिप्रेत नहीं होता, स्वार्थ कर्म विवक्षित होता है। उसका कर्मक्षेत्र अपने परिवार, नगर आदि तक सीमित नहीं रहता। तब उसका लक्ष्य मनुष्यमात्र की सेवा हो जाता है। गीता के गूढ रहस्य को न समझकर किसी समय गीता के निष्काम कर्म के नाम पर निष्कर्मण्यता की लहर चल पडी। परन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसलिए नहीं दिया था कि अर्जुन संन्यासी बनकर भीख मांगता फिरे या लंगोटी लगाकर हिमालय की ओर प्रस्थान करे।

किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का निश्चय करने में उसका उपक्रम, उपसंहार तथा अभ्यास निर्णायक होते हैं - **'उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता लिङ्ं तात्पर्यनिर्णये'**। अर्थात् - जो बात ग्रन्थ के आरम्भ में कही गई हो, बीच-बीच में बार-बार कही गई हो और अन्त में भी कही गई हो, वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य होता है। गीता के उपदेश का आरम्भ **'विसृज्यसशरं चापम्'** (१।४७) की अवस्था में **'धर्मसंमूढचेता'** (२।७) अर्जुन **'न योत्स्ये'** (२।९) अर्थात् 'नहीं लडूंगा' कहने पर हुआ और अन्त उसके **'करिष्ये वचनं तव'** (१८।७३) कहने पर हुआ। श्रीकृष्ण का वचन या कथन क्या था जिसके अनुसार अर्जुन ने आचरण करना स्वीकार किया - यह गीता में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध है। अर्जुन को समझाने के लिए श्रीकृष्ण तरह-तरह की बातें कहते हैं, नये-नये तर्क प्रस्तुत करते हैं किन्तु हर तर्क के अन्त में बार-बार 'तस्मात्' (इसलिए) पद का प्रयोग करके कहते हैं - **'तस्मात् यध्यस्व भारत'** (२।१८), **'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'** (२।३७), **'मामनुस्मर मध्य च'** (८।७), **'तस्मादुत्तिष्ठ जित्वा शत्रून् भुंक्ष्य राज्यं समृद्धम्'** (११।३३) इत्यादि। जिस उपदेश ने उपदेश्य को न लडने की घोषणा करने वाले अर्जुन को - लडाई में प्रवृत्त कर दिया उसे अकर्मण्यता (पढी गीता तो घर काहे को कीता) का प्रेरक्या प्रतिपादक कैसे माना जा सकता है? गोलमाल शब्दों में नहीं, अपितु खुले शब्दों में कर्म की प्रेरणा करते हुए कहा - **'कुरु कर्म'** (४।१५) कर्म कर। इतना अवश्य है कि उसके साथ उन्होंने दो शर्तें लगा दीं - एक यहकि सदा कर्त्तव्य कर्म कर और दूसरी यह कि फल की आसक्ति को छोडकर कर्म कर - **'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'** (३।१९)।

'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु.२।१३) - कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने में परम प्रमाण श्रुति = वेद है। श्रुति का वचन है - **'अकर्मा दस्युः'** (ऋ.१०।२२।८)। अर्थात् - जो कर्म नहीं करता वह दस्यु होता है।

दण्डव्यवस्था - कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता और कर्त्ता वह होता है जो **'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम्'** अर्थात् करने, न करने या अन्यथा करने में समर्थ हो

और इसलिए जिसे तत्तत् कार्य करने के लिए उत्तरदायी माना जा सके। अत: स्वेच्छा से की क्रिया ही कर्म कहाती है। पशुओं को कर्म करने पर उनका फल नहीं मिलता, क्योंकि भोग योनि में होने से उनमें कर्म, अकर्म और विकर्म में भेद करने की योग्यता नहीं होती। पशुओं में चेतना और बुद्धि का अत्यन्ताभाव नहीं होता, परन्तु उनमें बुद्धि और तर्क शक्ति का वहां तक विकास नहीं हुआ होता जहां कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न उठ सके और उन्हें सदाचार - कदाचार का उत्तरदाता ठहराया जा सके। १-२ वर्ष के मानव बालक को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के लिए उत्तरदाता नहीं ठहराया जाता, क्योंकि उत्तरदायित्व मस्तिष्क की विशेष विकसित अवस्था पर निर्भर करता है। ५ वर्ष का बालक चोरी के अपराध में जेल नहीं भेजा जायेगा, १२ वर्ष का बालक विशेष प्रकार की जेल (Borstal Jail or Reformatory School) में भेजा जायेगा। १९ वर्ष का होने पर जेल भेजा जायेगा, किन्तु हत्या का अपराधी होने पर भी पागल सिद्ध होने पर छोड दिया जायेगा या कम से कम प्राण दण्ड नहीं पायेगा। ५ वर्ष क बालक चोरी करने पर जेल तो नहीं भेजा जायेगा, पर साथी की पुस्तक चुराने पर पीटा अवश्य जायेगा। इस प्रकार मनुष्य कर्म करने की स्वतन्त्रता के साथ-साथ अपने बौद्धिक स्तर के अनुसार ही अपने कर्मो के लिए उत्तरदायी होता है।

अनेक पुण्य कर्मो के फलस्वरुप मानवदेह प्राप्त होता है। एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और नि:श्रयस दोनों की सिद्धि कर सकता है। इसीलिए अन्य योनियों में पापपुण्य के फल भोग कर इस योनि में आता है। इसी योनि में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मो का निष्पादन संभव है। मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वश्रेष्ठ योनि माना जाता है। किसी भी कारण से ऐसे दुर्लभ देह को पाकर उसे अपने हाथों से नष्ट कर देना महापाप माना गया है। हमारी न्याय व्यवस्था में भी आत्महत्या को अपराध माना गया है।

यदि कोई कैदी जेल के कष्टों से घबरा कर जेल से भाग कर सजा से बचना चाहे तो बच नहीं सकता। पकडे जाने पर शेष अवधि के लिए तो उसे जेल में रहना ही होगा, जेल से भागने के अपराध में उसे अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा। इसी प्रकार किसी तरह की कठिनाइयों या दु:खों से तंग आकर यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो पूर्वकृत कर्मो के फलस्वरुप मिल. रहे दु:खों के भोग से तो बच नहीं पायेगा (ना भुक्तं क्षीयते कर्म), आत्महत्या के अपराध के कारण उसे, बच जाने की अवस्था में, राजकीयव्यवस्था में तथा मर जाने पर ईश्वरीय व्यवस्था में अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा।

धर्माधर्म की कसौटी - हम जो कुछ करने जा रहे हैं वह अच्छा है या बुरा, यह जानना कठिन है। जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी काम में

लगाता है तो यदि मन में निर्भयता, नि:शंकता और आनन्दोत्साह के भाव उठते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हम अच्छा काम कर रहे हैं। इसके विपरीत यदि भय, शंका और लज्जा के भाव उठते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हम किसी बुरे काम को क रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके भीतर कोई मार्गदर्शक बैठा है जो उसे हर समय भले बुरे का ज्ञान कराता रहता है। ऋषि दयानन्द के अनुसार यह प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है **(सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास) - 'एष प्रजापतिर्यद् ब्रह्म' (बृहद् ५।३।१)।** यह दूसरी बात है कि हम अपने हितैषी (क्योंकि परमात्मा सबका कल्याण चाहता है) मार्गदर्शक की बात सुनें या न सुनें। घडी तो निरन्तर टिक-टिक करती रहती है। यह ठीक है कि उसके आस-पास शोर होने पर वह हमें सुनाई नहीं देती। फिर भी यदि पास जाकर और कान लगाकर सुनने क यत्न किया जाय तो वह सुनाई दे जाती है। विषय वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोक में 'हृदय की पुकार' या 'आत्मा की आवाज' (Voice of the conscience) कहाने वाली हृदयस्थ आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम सुन नहीं पाते, परन्तु इसमें तनिक सन्देह नहीं कि बुरी से बुरी अवस्था में भी और कभी उसकी बात न मानने वाला व्यक्ति भी, यदि चाहे तो, उस आवाज को सुन सकता है। बडे से बडे पापी के मन में भी बुरा काम करते समय भय, शंका और लज्जा का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। डॉक्टर राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ में कहा है कि "बडे से बडे पापी के मन में भी एक ज्योति दिखाई देती है जिसकी उपेक्षा वह भले ही करे, पर जिसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें संभालता है और हमारे अन्धेरे और विद्रोही मन में भी अपने प्रकाश की किरणें डाले बिना नहीं रहता"।[१]

कर्मस्वातन्त्र्य- श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा ह - "अपने आपको परमात्मा का साधनमात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आंधी में उडते पत्ते, काटने वाली तलवार या अपने लक्ष्य की ओर छोडे गये तीर के समान है। तलवार यह निर्णय नहीं करती कि मैंने किसे काटना है और न तीर यह पूछता

1. The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put out though he may try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts.

_ Radhakrishnan : Hindu View of Life

है कि मैंने किसकी छाती में जाकर लगना है ।"[१] यदि श्री अरविन्द की बात ठीक हो तो मनुष्य का सारा दायित्व ही समाप्त हो जायेगा । संसार में भला बुरा जो कुछ भी हो रहा है, उस सबके लिए परमेश्वर ही उरदायी होगा । सारी न्याय व्यवस्था चौपट हो जायेगी । अत: यह कथन यथार्थ के विपरीत है। जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है । वह इच्छा, राग, द्वेष, सुख, दु:ख और प्रयत्न आदि गुणों से युक्त चेतन तत्व है । वह परमात्मा के हाथ का खिलौना नहीं है । कर्त्ता होनेके कारण वह अपने कर्मों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है । वेदादि शास्त्रों के विधिनिषेधात्मक वाक्य जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं । श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है - '**गुणान्वयो य: फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता (श्वेत.५।७)** अर्थात् जीवात्मा फलप्राप्ति के लिए कर्मो का कर्त्ता है । आत्मा स्वयं कर्त्ता न होता तो वह भोक्ता कैसे हो सकता है ? तब उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध व्यर्थ होता । विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्दश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीवात्मा स्वतन्त्र है ।

कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार (Fundamental Right) से वंचित होकर यदि परमात्मा की अधीनता में रहकर जीवात्मा सब काम उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार करने पर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल की परमात्मा होगा । किसी की हत्या करने पर हत्या करने वाले व्यक्ति को दण्ड मिलता है, उसके साधनभूत तलवार, बन्दूक या तीर को नहीं । शासन के आदेश से फांसी देने वाले जल्लाद को हत्या का अपराधी कभी नहीं माना जाता । 'परमात्मा जो चाहता है वही होता है, उसकी आज्ञा के बिना तो कोई कुछ नहीं कर सकता, उसे वही करना पडता है जो परमात्मा उससे करवाता है' के सिद्धान्त को मानकर तो कभी किसी को दण्डित नहीं किया जा सकता । यदि यह मान लिया जाये कि अपराध करने या न करने में मनुष्य तलवार या तीर की तरह परतन्त्र है तो प्रत्येक अपराधी न्यायालय में जाकर रामचरितमानस से -

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई । करत अन्यथा अस कहीं कोई ।।
जेहि जब रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छन होइ ।
जाको प्रभु दारुण दु:ख देहीं । ताकी मति पहले हर लेहीं ।।

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें । किन्तु कोई भी

1. Learn thou to be the instrument of god. Let thyself be as a leaf in the tempest, as a sword that strikes and the arrow that leaps to its target. The sword does not choose where it shell strike, the arrow does not ask whither it shall be driven.

__Aurobindo _ Essay on the Superman

अदालत इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगी - नित्यप्रति अत्यन्त श्रद्धापूर्वक रामायण का पाठ करने वाला न्यायाधीश भी अपराधी को नहीं छोडेगा ।

इस विषय में श्री अरविन्द के विपरीत डॉ. राधाकृष्णन के विचार कहीं अधिक युक्तियुक्त तथा तर्कसंगत है । वे लिखते हैं - "जब लोग शैतान के काम कर रहे हों और ईश्वरीय इच्छा और व्यवस्था के नाम पर सब कुछ ईश्वर के मत्थे मढ रहे हों तब कर्म सिद्धान्त परमात्मा को संवैधानिक शासक के रूप में प्रतिष्ठित कर नैतिकता के महत्व पर बल देता है । कर्म कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं, आध्यात्मिक आवश्यकता है । परमात्मा कर्मों का प्रेक्षक है ।"[१]

अनासक्त कर्म - कर्म करना हमारी प्रकृति में निहित है - हम चाहें, न चाहें, कर्म के बिना हम रह नहीं सकते । जब कर्मरूपी बिच्छू मर नहीं सकता तो उसे प्रभावहीन - विषरहित कर देना ही बुद्धिमत्ता है । कर्म तो हो जाये परन्तु उससे होने वाले बन्धन से हम छूट जायें । सांप तो मर जाये पर लाठी न टूटे । कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना - फल की आकांक्षा को छोडकर कार्य में प्रवृत्त रहना ही इसका एकमात्र उपाय है । हमारा अधिकार कर्म करने तक सीमित है । फल प्राप्त करना हमारे क्षेत्र के बाहर है । जब फल पर हमारा अधिकार नहीं तो उसमें आसक्ति क्यों ? फलाशा को त्यागकर कर्म करते रहने पर, आगे कुछ कारणों से कदाचित् कर्म निष्फल रह जाये तो निष्फलता का दु:ख मानने का कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि हम तो अपने अधिकार का काम कर चुके । वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार हजारों रोगियों को दवाई देता है। इस प्रकार निष्काम बुद्धि से यदि कोई रोगी मर जाता है तो उसे दु:ख नहीं होता । हस्पतालों में यह हर समय होता रहता है । परन्तु जब उसका अपना लडका बीमार हो जाये और ठीक न हो सके तो ममतायुक्त फलाशा से उसका चित्त घबडा जाता है । इससे निष्काम कर्म और सकाम कर्म का अन्तर स्पष्ट हो जाता है ।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है, फल का भविष्यत् से । वर्तमान से भविष्यत् तक पहुंचने में कितना भी समय लग सकता है । परिस्थितियों में कितना ही अन्तर आ सकता है । अंग्रेजी की एक कहावत है - 'There is many a slip between the cup and the lip' - प्याले के होठों तक (

1.At a time when people were doing devils work under divine sanction and consoling themselves by attributing everything to god's will, the principle of karma insisted on the primary of the school and identified god with the rule of law. Karma is not a mechanical processs but a spiritual necessity. God is it's supervisor _ Karmad-hyaksha _ Hindu View of Life, P. 52

पहुंचने में कितनी ही बार फिसलने का भय रहता है। इसलिए भविष्य में होने वाले फल के लिए आशा बांध लेना युक्तिसंगत न होने से दु:ख का कारण हो सकता है। किसान खून-पसीना एक करके खेती करता है, किन्तु जब फसल पक कर तैयार होती है, तभी टिड्डी दल आकर देखते-देखते लहलहाती फसल चौपट कर जाता है। हमारा अफसर हमारे काम से सन्तुष्ट है। आगामी १अप्रेल से नया ग्रेड दिलाने का आश्वासन देता है। हमें उसकी ईमानदारी और सामर्थ्य पर पूरा भरोसा है। निकट भविष्य में बढने वाली आय के अनुरूप योजनाएं बनाने लगते हैं। यहां तक कि आश्वासन की विश्वसनीयता और नये बजट के बाद मूल्यों में वृद्धि की आशंका से, कहीं से ऋण लेकर विशेष सुख-सुविधाओं की सामग्री जुटाने में अतिरिक्त व्यय कर डालते हैं। परन्तु ३० मार्च की रात्रि को अचानक हृदयगति रुक जाने से उस अफसर का देहान्त हो जाता है या सरकार बदल जाती है या ऐसी ही कोई अन्य बाधा उपस्थित हो जाती है। हमें लेने के देने पड जाते हैं। परिणामत: हम सिर पीटकर रह जाते हैं।

यही बात साधन और साध्य की पवित्रता के सम्बन्ध में है। हम अपनी कमाई से धन लगाकर मन्दिर या धर्मशाला बनवाना चाहते हैं। हमारा साध्य या लक्ष्य श्लाघ्य है, सर्वथा पवित्र है। परन्तु धन कमाने में हम अनुचित साधनों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते। कमाई के समय उचित या अनुचित साधनों को अपनाने में हम स्वतन्त्र हैं। परन्तु उस धन का उपयोग भविष्य का विषय है। धन हाथ में आ जाने पर वह निश्चित रूप से मन्दिर या धर्मशाला के निर्माणार्थ ही व्यय होगा - इसकी गारण्टी कौन दे सकता है? अकस्मात् हमारी मृत्यु हो सकती है, नियत बदल सकती है या अन्य कोई बाधा आ सकती है। पाप से बचना हमारे हाथ में था, वह हम कर बैठे। भविष्य की कौन जाने। पाप हमारे खाते में लिखा गया, उसका फल तो मिले बिना रहेगा नहीं। भौतिक जगत् में जिसने कार्य - कारण (Cause and effect या action and reaction) कहते हैं, आध्यात्मिक संदर्भ में उसे कर्मफल के नाम से अभिहित किया जाता है। अनिवार्यता कार्य - कारण का अटल नियम है। कर्म कारण है, फल उसका कार्य है। कर्म क्रिया है तो फल उसकी प्रतिक्रिया है। जब तक किसी कर्म का फल मिल नहीं जाता तब तक वह कर्त्ता के खाते में दर्ज रहता है - जन्म - जन्मान्तर तक carry forward होता रहता है। फलोपभोग होने पर ही कट सकता है।

अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारण प्रत्येक मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म करता है। यह और बात है कि कोई शुभ कर्म अधिक और अशुभ कम तथा कोई अशुभ कर्म अधिक और शुभ कर्म कम करे।[१] पुण्य कर्मो

1. Virtuous and vicious every man must be, _ Few in the extreme but all in degree. _ Alexander Pope : Essay on man.

के फलस्वरुप सुख और पाप कर्मो के फलस्वरूप दु:ख मिलता है। दोनों प्रकार के कर्मो की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। दोनों का पृथक्-पृथक् फल मिलता है। यदि एक जन्म में से किसी ने १० शुभ और २ अशुभ कर्म किये हों तो २ अशुभ कर्म २ शुभ कर्मो से कट कर अपने जन्म में फल देने के लिए शेष ८ शुभ कर्म बचे रह जायें अथवा यदि किसी ने एक जन्म १० अशुभ और २ शुभ कर्म किये हों तो २ शुभ कर्म २ अशुभ कर्मो से कटकर अगले जन्म में फल देने के लिए ८ अशुभ कर्म ही बचे रह जायें - ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा होता तो वर्तमान जन्म में कोई मनुष्य पूर्णत: सुखी और कोई पूर्णत: दु:खी होना चाहिए था। परन्तु ऐसा कहीं देखने में नहीं आता। प्रत्येक मनुष्य को जीवन में न्यूनाधिक मात्रा में सुख-दु:ख का सम्मिश्रण दिखाई पडता है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व जन्म में किये शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म इस जीवन में साथ-साथ फलीभूत हो रहे हैं। चोर बाजारी, तस्करी या डाके से प्राप्त धन को परोपकार में लगा देने से किसी के पाप नहीं धुल सकते। ऐसा व्यक्ति दानवीर कहला सकता है, धर्मवीर नहीं बन सकता।

कैसे जियें

मानव समाज में सदा से दो विचारधाराएं चलती रही हैं। एक विचारधारा के अनुसार 'खाओ-पियो-मौज करो' (Eat, drink and be merry) ही इस जीवन का आदर्श है। चारवाकों के समान भौतिक अथवा भोगवादी दृष्टिकोण रखने वाले यूनान में ऐंपिक्यूरियन कहाते थे। वे खाने के लिए जीते थे, जीने के लिए नहीं खाते थे। वर्तमान में जीने की प्रवृत्ति रखने वाले इन लोगों के मत में जीवन का संपूर्ण आनन्द जितना हो सके जल्दी से जल्दी उठा लेना चाहिए। आगे क्या होगा, कौन जानता है! इसलिए जब तक जियो सुख पूर्वक जियो, पैसा पास न हो तो उधार ले लो। शरीर के भस्म होने पर किसका लेना, किसका देना। न लेने वाला फिर कभी यहां आयेगा, न देने वाला।[१] आज से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व बाबर ने इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया था - 'इस जिन्दगी में ऐश करो, दुनिया में दुबारा आने का अवसर नहीं मिलेगा।'[२] और आज से हजारों - लाखों वर्ष पूर्व यही बात वाल्मीकिरामायण में रावण ने सीता से कही थी - **'भुंक्ष्व भोगान्यथाकामं पिब भीरु रमस्व च' (सुन्दरकाण्ड - २०।२३)**

दूसरी विचारधारा के अनुसार संसार दु:खों का घर है। यहां जन्म में दु:ख है, बुढापा दु:खरूप है, व्याधियां दु:खों का कारण है, मृत्यु का दु:ख तो सबसे बडा दु:ख है ही, बार-बार जन्म लेना और बार-बार मरना सब दु:खों

१.यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।।
२. बाबर बाऐश के आलम दुबारा नेस्त।

का मूल है ।[१] योगदर्शन में कहा है - "मनुष्य जीवन के अन्तिम भाग में बुढापे और मृत्यु का दु:ख, मध्यम भाग में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु:ख और जो दु:ख अतीत में पड चुके हैं उनकी स्मृति का दु:ख - इस प्रकार विवेकी पुरुष के लिए सारा जीवन दु:खों से भरा है । और उसके साथ जब गुणों और वृत्तियों का विरोध मिल जाता है तो मनुष्य के जीवन का प्याला दु:खों से भर जाता है ।"[२] बौद्ध आदि अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्तक संसार को दु:खरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं - 'नानक दुखिया सब संसार' । दु:ख हेय है । जहां दु:ख ही दु:ख है वहां से हट जाने में ही कल्याण है । संसार दु:खरूप है, इसलिए संसार को त्याग देना चाहिए । महात्मा बुद्ध ने आध्यात्मिकता के शिखर पर खडे होकर आवाज दी तो शंकराचार्य ने **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का उद्घोष किया । परिणामत: सैंकडों - हजारों ने घर बार छोडकर जंगल की राह ली । जे. एच.होम्स ने कहा कि संसार मात्र धोखा है, उसमें कुछ भी सार नहीं है । किसी भी बुरी वस्तु की तरह उसे छोड देना चाहिए । जीवन का रस आत्मा के भीतर ही मिलेगा ।[३] ऐसे लोग हाड मांस से बने शरीर को मल-मूत्र का ढोल मान कर उससे भी घृणा करने की प्रेरणा देते हैं ।

संसार के इतिहास में मानव समाज इन्हीं दो विचार धाराओं में बंट कर अपने अपने मार्ग पर चलता आया है । इनमें एक भोग मार्ग है और दूसरा त्याग मार्ग । भोग में मनुष्यमात्र की - प्राणिमात्र की - स्वाभाविक प्रवृत्ति है । इसलिए जहां शंकर और बुद्ध की बात को सिद्धान्तरूप में स्वीकार करते हुए भी उनके पीछे चलने वाले बहुत नहीं निकले, वहां भोगवादी प्रवृत्ति ने प्राय: सभी को फंसाये रक्खा है ।

संसार दु:खरूप नहीं - संसार में दु:ख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता । किन्तु आनन्दस्वरूप परमेश्वर की रची सृष्टि में सर्वत्र दु:ख ही दु:ख हो, सुख कहीं भी न हो, यह कैसे संभव है ? प्रत्येक प्राणी किसी वस्तु में सुख जानकर ही उसमें प्रवृत्त होता और दु:ख जानकर उससे निवृत्त होता है । संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पडती है । यदि संसार में दु:ख ही दु:ख होता तो इसमें किसी की प्रवृत्ति न होती । किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक

१. जन्मदु:खं जरादु:खं व्याधिदु:खं पुन: पुन: ।
मृत्यु दु:खं महादु:खं तस्माज्जागृहि जागृहि ॥

२.परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुवृत्तिविरोधाच्चदु:खमेवसर्वं:विवेकिन:।योग२।१५

3. We are through with this world. It is all emptiness, vanity and deciet. We shall leave it as we will any evil thing; and we will turn inward to ourselves and seek within our souls the way that leads to life.

से अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री जुटाने के साधनोपायों के चिन्तन में प्रवृत्त रहता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने पर भी जैसे-तैसे कुछ और काल तक यहां बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। **'जीवेम शरदः शतम्'** से सन्तुष्ट न होकर **'भूयश्च शरदः शतात्'** - सौ वर्ष से भी अधिक काल तक जीते रहने की कामना करता है। दुःख को सहते हुए भी मनुष्य मौत को भगा कर यहां रहना चाहता है। ऐसा क्यों है? वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं, किन्तु दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है। **'अकामः न कुतश्चनोनः'** - पूर्णकाम परमेश्वर ने अपने लिए नहीं, अपितु जीव के भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की है। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का मिश्रण रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है। अतः अपवर्ग की अपेक्षा से भोग हेय है और भोग की अपेक्षा से अपवर्ग (मोक्ष) श्रेयस्कर है। भोग को अपवर्ग के साधनरूप में अपना कर संसार में रहने वाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता।

'भोगायतनं शरीरम्' - शरीर के बिना संभव नहीं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि शरीर के मान्यम से होती है। जैसे शरीर को ही सब कुछ मानना और उसी की सेवा में लगे रहना निन्द्य है, वैसे ही उसकी उपेक्षा करना भी मूर्खता है। कुछ लोग शरीर को दुःखों का मूल मानकर उससे घृणा करने की बात करते हैं। उनकी मान्यता है कि हड्डियों के ढांचे से बना हुआ यह शरीर अनित्य होने से हेय है। इन हड्डियों पर मांस और रक्त से लेपन किया हुआ है और चर्म से ढंक दिया गया है। मल-मूत्र की दुर्गन्ध इसमें भरी हुई है। बुढापे और शोक से यह आक्रान्त है। रोगों का घर है। जैसे रजस्वला स्त्री रजोधर्म से अपवित्र होती है वैसे ही यह शरीर भी दूषित रजोगुणी पदार्थों से भरा हुआ है। ऐसे शरीर को त्याग देना चाहिए। परन्तु इसी तथाकथित दूषित शरीर में हमारी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा भी तो हैं जिनको यह पुष्ट करता और जिनकी यह रक्षा करता है। इसी के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न का यही माध्यम है। खाद नितान्त अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त होता है, किन्तु पेड-पौधों में प्रयुक्त होने पर वही गुलाब, चमेली, चम्पा, केवडा आदि में सुगन्धित और सुन्दर फूल उत्पन करने में सहायक होता है। उसी के कारण पेडों पर फल लगते हैं और खेतों में अन्न पैदा होता है। इसी प्रकार अपने आप में अपवित्र रज और वीर्य से सुन्दर और सुडौल शरीरों की रचना होती है। और इन शरीरों के द्वारा ही गौतम और कणाद, कपिल और व्यास, पतञ्जलि और जैमिनि, राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, कबीर और नानक, पाणिनि और यास्क, बाल्मीकि और कालीदास, शंकर और दयानन्द जैसे युग पुरुष इतने महान कार्य कर गये।

अतः इस शरीर को निन्द्य या त्याज्य नहीं माना जा सकता । जब तक शरीर आत्मा का साधन है तब तक उसमें कोई दोष नहीं । उसे स्वस्थ तथा सुन्दर बना कर उसका उचित उपयोग करना हमारा धर्म है । बुराई तब आती है जब हम शरीर को साधन न मानकर साध्य समझ लेते हैं और सर्वात्मना इसकी सेवा में जुटे रहते हैं । यहां तक कि उसकी चाह पूरी करने के लिए नैतिकता का परित्याग कर देते हैं और इसमें आसक्त होकर परब्रह्म से विमुख हो जाते और इस प्रकार मनुष्य योनि के परम लक्ष्य को भुला बैठते हैं ।

भोग और त्याग का समन्वय - वैदिक विचारधारा का दृष्टिकोण त्यागपूर्वक भोग का है । ईश्वर ने इस प्रकाश (सत्व), क्रिया (रजत्) व स्थिति (तमस्) स्वभाव वाले तथा भूत (पांचों स्थूलभूत तथा सूक्ष्मभूत एवं उसके कारण तन्मात्र) और इन्द्रिय (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा आन्तरेन्द्रिय मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) स्वरूप वाले जगत् को जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिए बनाया है ।[१] चेतन आत्मा इसमें भोक्तारूप में उपस्थित रहता है । महर्षि कणाद के अनुसार, जिससे इस जीवन में विभूति प्राप्त हों और उसके पश्चात् मोक्ष मिले, वह धर्म है ।[२] जब अभ्युदय का साधन धर्म है तो अभ्यदय अर्थात् प्राकृत पदार्थों का उपभोग कैसे पाप हो सकता है ? जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से लेकर चक्रवर्ती राज्य तक अभ्युदय के अन्तर्गत है । जब सृष्टि की रचना ही जीव के लिए की गई है तो सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करना न केवल अनुचित नहीं, अपितु स्वाभाविक एवं आवश्यक है । मनुष्य द्वारा अपनी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं को बाह्य साधनों से पूरा करने का नाम भोग है । यदि मनुष्य निर्दोष साधनों से अपना भोग्य प्राप्त करे और मर्यादित रूप में उसका उपभोग करे तो तनिक भी दोषी नहीं होगा । बुराई तब होती है जब वह भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए हेय साधनों का उपयोग करता है । जब वैभव के लिए ठगी, शक्ति के लिए क्रूरता और इन्द्रिय सुख के लिए दुराचार आदि का प्रयोग करता है तो वह अपराधी बन जाता है ।

जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता । धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्त वस्तुओं को जुटाने के लिए होता है । वस्तुएं, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं । शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधनभूत होता है । उपभोग भी उपभोग के लिए नहीं, उससे होने वाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है, और यह सुख या आनन्द की अनुभूति भौतिक शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है ।

१. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवगार्थं दृश्यम्। योग २।१८

२. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः । वैशेषिक १।१।२

इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्तत: अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है।

हमारा व्यावहारिक जीवन पदे-पदे अलिप्त होकर - त्यागपूर्वक उपभोग का संकेत करता है। चलना चाहते हो तो पैर को अपने पहले स्थान से उठाकर आगे धरना होगा। चलने वाले का पैर यदि एक स्थान पर चिपक कर रह जाये तो चलना असंभव हो जाये। इस प्रकार आगे बढने का अर्थ है पिछले स्थान को छोडना। सीट पर चिपक कर बैठने वाला अपने गन्तव्य पर कभी नहीं पहुंच सकेगा। सडक चलने के लिए है, डेरा डालने के लिए नहीं। यदि एक जगह जम कर खडे हो जाओगे तो कोई न कोई वहां से हट जाने के लिए कहेगा। कहने से नहीं हटोगे तो बलात् हटा दिये जाओगे। सार्वजनिक पार्क सबके लिए है। उसमें घूमने फिरने, उसके सौन्दर्य को निहारने, उसमें खिले फूलों की सुगन्ध लेने का अधिकार सबको है, किन्तु वहां के पेड-पौधों को उखाडकर या फूलों को तोडकर ले जाने या नियत समय के बाद वहां ठहरने का अधिकार किसी को नहीं है। दूसरे शब्दों में सडक, पार्क आदि का समुचित प्रयोग या उपयोग का अधिकार हर किसी को है, किन्तु उन पर स्वत्वाधिकार किसी का नहीं। गाडी में बैठकर नियमानुसार यात्रा करने का अधिकार सबको है। किन्तु टिकट के अनुसार अपने गन्तव्य पर पहुंच कर भी स्वेच्छा से स्थान न छोडने वाले को बलात् उतार दिया जाता है। इसी प्रकार संसार के पदार्थों को भोगने का अधिकार सबको है, परन्तु उन्हें अपना समझकर उनसे चिपक जाने का अधिकार किसी को नहीं है। न भोगने का नाम त्याग नहीं है, भोग से न चिपटने का नाम त्याग है। भोग तो जीवन के साथ है। दु:ख भोग में नहीं, भोग से चिपटने या भोगों को मर्यादित न रखने में है।'अपरिग्रह' का अर्थ है परिग्रह का निषेध अथवा किसी वस्तु पर अपनी पकड को ढीला करना। हम कितना ही यत्न करें, कोई भोग अन्त तक नहीं टिक सकता। अत: भोगों को भोगकर पीछे हट जाने में ही सुख है। आग में हाथ झोंक देने से हाथ जल जाता है। हाथ को कुछ दूर रखकर सेकने से अपेक्षित ताप मिल जाता है, हाथ नहीं जलता 'One should warm his hands without burning them'.संसार के पदार्थों का भोग इसी प्रकार अलिप्त रहकर करना श्रेयस्कर है।

यह ठीक है कि संसार के पदार्थ जीवों के भोग के लिए हैं। फिर भी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इन पदार्थों को ईश्वर का ही समझ कर करे। ऐसा विश्वास हो जाने पर मनुष्य प्रत्येक पदार्थ में अपना प्रयोगाधिकार ही समझेगा।'अमुक पदार्थ मेरा है' - यह ममत्व ही सब दु:खों का मूल है। स्वत्वाधिकार न समझने वाला प्रयोग का समय समाप्त हो जाने पर उन्हें यह कहते हुए छोड देता है -

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सब तोर।

तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर ॥

वस्तुत: बुद्धिमान् मनुष्य उतना ही लेना चाहेगा जितना वह न्यायपूर्वक - सच्चाई व ईमानदारी से कमा सके, संयमपूर्वक जिसका उपभोग कर सके, प्रसन्नतापूर्वक दूसरों में बांट सके और सन्तोषपूर्वक छोड सके ।[१] ये केवल कहने की बातें नहीं हैं । हमारा इतिहास और परम्पराएं इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता की साक्षी हैं । रघुकुल की तो यह विशेषता थी कि वे त्याग = दान के लिए ही संग्रह करते थे ।[२] बादलों के समान देने के लिए ही लेते थे ।[३] वनगमन के समय राम की अवस्था का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि राम की आकृति जैसी राज्याभिषेक की सूचना मिलने पर थी वैसी वनगमन का आदेश मिलने पर थी ।[४]

भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा वर्तमान और भविष्यत् के समन्वय को लेकर ही भारतीय मनीषियों ने मनुष्य समाज को चार वर्गों में और व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था । चार वर्गों या वर्णों में केवल वैश्य पैसा कमाता था और उसके लिए यह व्यवस्था थी कि जिस प्रकार सारा भोजन पेट में ही जाता है, परन्तु पेट उसे अपने पास न रखकर रस-रक्त आदि के रूप में शरीर के सभी अंगों में बांट देता है, उसी प्रकार वैश्य अपनी कमाई सारे समाज में बांट देता है । भोजन पेट में पडा रहने से शरीर रोगी हो जाता है । सारी सम्पत्ति का केवल वैश्य के पास जमा रहना समाज में असन्तोष और असन्तुलन का कारण बन कर समाज को रोगी बना देता है। इसलिए वैश्य समाज के न्यासी या ट्रस्टी के रूप में सम्पति का अधिकारी होकर भी उसका यथोचित वितरण करता है ।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास - इन चार वर्णों में केवल गृहस्थ पैसा कमाता था, शेष तीनों आश्रम त्याग के थे । चारों वर्णों के लोग गृहस्थ हो सकते थे, संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को था ।वानप्रस्थ का अधिकार भी सबको था । राजा भी समय आने पर वनस्थ होते थे । रघुवंश में रघुवंशियों के लिए वानप्रस्थ की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए कालिदास में लिखा है -**'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्'** । जब रघु बूढा हो गया और उसका पुत्र अज विवाह करके घर आया तो कालिदास कहता है - **'न हि सति कुलधूर्ये**

1.A wise man will desire no more than what he can get justly, use soberly, distribute cheerfully and leave contentedly.

२. त्यागाय संभृतार्थानाम् । रघुवंश १।७

३. आदानाय विसर्गाय सतां वारिमुचामिव । रघुवंश ४।८६

४. आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षित: कश्चित् स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम: ॥ महानाटक ३।२५

सूर्यवंश्या गृहाय' अर्थात् यदि कुल की धुरी, कुल का स्तम्भ अर्थात् पुत्र घर में हो तो सूर्यवंशी राजाओं के घर में रहने की प्रथा नहीं है । जिस समय शकुन्तला का दुष्यन्त से विवाह हुआ तो विदा होते समय उसने पिता कण्व से पूछा कि अब आप मुझे कब बुलायेंगे तो ऋषि कण्व ने उत्तर दिया - 'देर तक राज्य करती-करती जब तू अपने लडके को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बन कर इस आश्रम में आना ।'[१]

यज्ञ के मूल में भी त्याग भावना अनुस्युत है - वह त्याग भावना का अपर नाम अथवा उसका मूर्त्तरूप है ।

मृत्यु

वेद का वचन है -

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय त्र्आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ।।ऋ. १०।१८।२

हे सांसारिक लोगों ! इस मृत्यु से मत घबराओ । मृत्यु के बढते चरण को अपने जीवन से परे धकेल दो । आओ, अपने सुचरित से दीर्घ जीवन प्राप्त करो - प्रकृष्ट जीवन व्यतीत करो । शुद्ध, पवित्र यज्ञीय जीवन बिताते हुए प्रजा, धन तथा सब प्रकार के सुखदायी ऐश्वर्य सदा तृप्त बने रहो ।

वेद ने कह दिया -'मृत्यु को परे धकेल दो' पर यह कैसे हो सकता है ? **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' (गीता २।२७)** जो पैदा हुआ है, वह मरेगा अवश्य । मृत्यु तो अपरिहार्य है, अवश्यंभावी है । तब उससे कोई कैसे बच सकता है ? गीता कहती है कि जब तुम जानते हो कि एक न एक दिन मरना पडेगा तो फिर उससे डरना क्या ?

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि । गीता २।२७

जिसे हटाया नहीं जा सकता, उस विषय में शोक नहीं करना चाहिए ।

परन्तु

'स्वरसबाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।योग. २।९

अपने संस्कारों के वशीभूत 'अभिनिवेश' नामक मृत्युभय विद्वान और मूर्ख सबको समान रूप से भयभीत करता है । और जैसे भी हो प्राणिमात्र उसे भगाने का यत्न करता है । मानव जीवन में मृत्यु जैसी भयानक और अवश्यंभावी वस्तु अन्य कोई नहीं । कोई अपने को खोना नहीं चाहता - कोई अपना अस्तित्व मिटाना नहीं चाहता । मृत्युशय्या पर पडा व्यक्ति भी अन्तिम श्वास तक जीने के लिए हाथ-पैर मारता रहता है । सगे सम्बन्धी और संगी साथी भी जब तक सांस तब तक आस लगाये रहते हैं । परन्तु जीवन के हर

१. भूत्वा चिराय चतुरन्तमही - सपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥
-अभिज्ञान शाकुन्तलम् ४।२८

क्षेत्र में आशातीत उन्नति कर लेने पर भी मनुष्य यह नहीं जान पाया कि मृत्यु कब, कहां उस पर हमला कर देगी। इसलिए कोई बिरला ही इस भय से मुक्त होकर चिन्तन करने में समर्थ होता है। जो चिन्तन करके मृत्यु के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है वह इसे प्रभु का वरदान समझ कर इसका स्वागत करता है।

काम करते-करते जब आदमी थक जाता है तो उसे आराम देने के लिए निद्रा आ जाती है। इससे थकावट दूर हो जाती है और मनुष्य नये सिरे से काम करने के लिए शक्ति प्राप्त कर लेता है। निद्रा की अवस्था में शरीर के आन्तर-बाह्य सभी अंगों को विश्राम मिल जाता है। स्वप्नावस्था में मन अवश्य अपनी उधेड बुन में लगा रहता है, परन्तु गाढ निद्रा की अवस्था में वह भी आराम करने चला जाता है। किन्तु प्राण तब भी अपना काम करता रहता है - उसे कभी पल भर के लिए भी विश्राम करने का अवसर नहीं मिलता। यदि वह 'काम रोको' हडताल करके कहीं चला जाय तो उसकी अनुपस्थिति में शरीर को लावारिस या बेकार समझ कर घर से बाहर फेंक दें। परन्तु नई स्फूर्ति से काम करने के लिए उसे भी विश्राम की आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दयालु भगवान् ने मृत्यु की योजना बनाई है। असहज पीडा और कष्ट के कारण जब मनुष्य त्राहि-त्राहि कर उठता है तो उनसे छुटकारा दिलाने के लिए मृत्यु आती है। जिस शान्ति को संसार नहीं दे सका उसे मृत्यु प्रदान करती है। जीवन में एक समय ऐसा आता है जब खाट पर पडे-पडे हर समय खांसते खखारते वाले बूढे से हर कोई घृणा करने लगता है। उस अवस्था में मृत्यु आती है और नया जन्म देकर हर किसी के हाथ का खिलौना बना देती है। जिससे सब दूर भागते थे उसी को अब हर कोई गोद में लेने को लालायित है। मरना तो नये जीवन का आरम्भ है। एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर में प्रवेश पाने में जो समय लगता है, यह joining time ही प्राण के विश्राम का काल है। दूसरे शरीर में प्रवेश करते ही वह फिर अपने काम में लग जाता है। पुराने, नीरस और उबाऊ काम को एक तरफ करके जीवात्मा नये और पहले से अच्छे काम को शुरु करता है।[१] पर अपनी नासमझी के कारण इस समस्त प्रक्रिया में साधनभूत मृत्यु को आता जानकर उससे आतंकित हो हम वैसे ही बचते फिरते हैं जैसे गिरफ्तारी के वारंट की सूचना मिलने पर। **किमाश्चर्यमत: परम्।**

एक प्रकार से मृत्यु तो प्रतिक्षण होती रहती है। हमारे शरीर का कोई न कोई अंग हमसे सदा ही अलग होता रहता है। रसायनशास्त्र के अनुसार हमारा शरीर ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, चूना, गन्धक, पोटाश,

1.To die is to begin to live again. It is to end an old, stale and weary work and to commence a newer and better one._ Beaumout Fletcher

फासफोरस, लोहा, आदि रासायनिक पदार्थों से बना है। सृष्टि की रचना भी इन्हीं तत्वों से होती है। शरीर के रासायनिक परमाणु सतत क्षीण होते रहते हैं और उनकी पूर्त्ति सृष्टि में व्याप्त परमाणुओं से होती रहती है। यह क्रम अबाध गति से चलते रहने पर भी हमें उसका आभास नहीं होता। शरीरशास्त्रियों का कहना है कि शरीर के परमाणु या कोशिकाएं (cells) प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सात वर्ष में पूरे का पूरा शरीर बदलकर दूसरा बन जाता है। यहआमूल-चूल परिवर्तन जीवन में कई बार होता है। तथापि यह परिवर्तन इतना धीरे-धीरे और सूक्ष्म होता है कि हम इसे अनुभव नहीं कर पाते। जब तक शरीर के परमाणु बारी-बारी और धीरे-धीरे निकलते रहते हैं तब तक हमें उसका बोध नहीं होता। फिर एक समय वह आता है जब पुराना सब टूट जाता है, नया बनता नहीं। तब एक दिन शरीर के भीतर होने वाला यह व्यापार एक बारगी बन्द हो जाता है। तब यह शरीर न पानी पीता है, न भोजन करता है और न सांस लेता है। इसी का नाम मृत्यु है। शरीर और आत्मा के संयोग को जन्म कहते हैं और उनके वियोग को मृत्यु।

फिर भी संसार मृत्यु से डरता है। क्यों? इसके अनेक कारण हैं,जैसे-

१. मृत्यु का अर्थ न समझना।

२. जन्मान्तर की स्थिति का निश्चय न होना।

३. मृत्यु के समय होने वाले शारीरिक कष्ट की कल्पना।

४. मोह-ममता।

५. तृष्णा।

६. कर्मफल की चिन्ता।

झरना निरन्तर गतिशील है। जल के परमाणु आते हैं और चले जाते हैं। झरने की दृष्टि से जल के परमाणुओं का चला जाना उनका विनाश है, किन्तु नदी या समुद्र की दृष्टि से नहीं। गाडी के चले जाने के बाद बिदा (see off) करने के लिए लोग कहते हैं -'देवदत्त गया।' घर पहुंचने पर घर वाले कहते हैं -'देवदत्त आ गया।' दिल्ली वाले कहते हैं'गया' तो कानपुर वाले कहते हैं -'आया'। कानपुर के स्टेशन पर प्रतीक्षा में खडे लोग दूर से ही देख चिल्ला उठते हैं -'गाडी आई'। यह वही गाडी है जिसे कुछ देर पहले लखनऊ वालों ने कहा था -'गाडी गई'। जिसके जाने पर लोग छाती पीट-पीट कर रोये थे, अन्यत्र ढोलक बजा-बजा कर उसी के आने पर मंगल मनाया जा रहा है। जो एक के लिए मरना है, वही दूसरे के लिए जीना है।

तेल, बत्ती, वायु और अग्नि के संयोग से दीपक जलता है। जब तेल व बत्ती नहीं रहते तो दीपक बुझ जाता है, उसकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु यह समझना कि तेल और बत्ती नष्ट हो गये, मूर्खता होगी। वस्तुत: उनका रूपान्तर हुआ है। जिन परमाणुओं से उनका निर्माण हुआ था, रूपान्तरित

होकर वे उन्हीं में विलीन हो गये। यही स्थिति हमारे शरीर की है। उसमें नित्य परिवर्तन होता रहता है। 'बचपन, जवानी और बुढापा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी अवस्थान्तरण की अगली अवस्था मृत्यु है।'[१] तब उसमें दुःख किस बात का ? जन्म-मरण के आवर्तमाण चक्र का न अथ है, न इति। मृत्यु नहीं होगी तो जन्म भी नहीं होगा। जीवन को गतिशील बनाये रखने के लिए मृत्यु अनिवार्य है। टूटा फूटा घर अच्छा नहीं लगता, नया घर चाहते हो, तो पुराने को ढाना पडेगा। उसी जगह नया घर बनेगा। जहां जीवन, वहां मृत्यु है। उसका वरण चाहे कोई हंस के करे या रोकर - उसे टाला नहीं जा सकता, क्योंकि मृत्यु शरीरधारियों का स्वभाव है।[२] सुकरात ने कहा था - 'मैं मरुं या न मरुं, यह मेरे वश में नहीं है, किन्तु मैं हंसता हुआ मरुं या रोता हुआ, यह मेरे वश में है। इसलिए मैं इस बात के लिए प्रयत्नशील रहूंगा कि मैं हंसता-हंसता मरुं।' सुकरात के इस कथन की प्रतिध्वनि कबीर के इस दोहे में है-

आये थे जब जगत् में जग हंसा तुम रोये।
ऐसी करनी कर चलो तुम हंसो जग रोये॥

मरणोन्मुख व्यक्ति को अपने कृत्यों का दर्शन सिनेमा की रील की भांति होता है। मृत्यु को सन्निकट देखकर उसके स्मरण मात्र से मनुष्य कांप उठता है। अपने कर्मों के भयंकर रूप को देख और उनके संभावित फल की कल्पना करके वह छटपटाने लगता है। उस अवस्था में जीवन के पन्नों को पलटते हुए अपने कुकृत्यों को देख-देख कर संत्रस्त हो उठता है। जो जीवन भर मृत्यु को भूले रहकर दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, समय रहते लेखा-जोखा नहीं करते, अन्तिम वेला में उनके हाथ निराशा ही लगती है। जिन्हें अपनी असफलता निश्चित दीखती है, वे परीक्षा काल में भागने की चेष्टा करते हैं। ज नहीं पाते तो डर के मारे कांपने के सिवा और क्या कर सकते हैं ? ६ विपरीत जो मृत्यु को सदा सन्निकट जानकर कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, वे निर्भय होकर सहर्ष मृत्यु को गले लगाते हैं।

सेवा से निवृत्त (Dismiss) किये जाने पर तो दुःख होना स्वाभाविक है। परन्तु वैसा दुःख स्थानान्तरण (Transfer) में नहीं होता। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जाये कि वह मरता कभी नहीं, केवल पुराने कपडे उतारकर नये पहन लेता है तो वह मरने से क्यों डरेगा ?[३] कपडे तो लोग बदलते रहते हैं किन्तु कपडे बदलते समय किसी को रोते नहीं देखा। पुराने मकान को

१. देहिनोऽस्मिन् देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥गीता २।१३

२. मरणं प्रकृतिः शरीरीणाम् विकृति जीवितमुच्यते। कालिदास

३.वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता २।२२

छोडकर नये मकान में जाने में भी कोई दु:खी नहीं होता। तैर कर पार होने वाला डूबता नहीं, दूसरे किनारे पर जाकर फिर अपने काम में लग जाता है।[1] शरीर के परिणामी और आत्मा के उससे भिन्न होने का रहस्य जान लेने पर मृत्यु भयावह नहीं रहती।

सरकारी कर्मचारियों का स्थानान्तरण होता रहता है। यदि उसे प्रोन्नत (Promote) करके सुखद स्थान पर भेजा जाता है तो वह प्रसन्नतापूर्वक जाता है। किन्तु यदि अवनत (Demote) करके पूर्वापेक्ष्या असुविधाजनक स्थान पर भेजा जाता है तो उसका विरोध करता है। देहान्तर प्राप्ति की तुलना पुराने कपडे छोडकर नये कपडे पहनने से की जाती है। यदि पहले से अच्छे कपडे मिल रहे हों तो कोई भी पुराने कपडे उतारने में देर नहीं लगायेगा। परन्तु यदि पहले से घटिया कपडे मिल रहे हों तो पुराने कपडे उतारने में उसे दु:ख होगा। जिसके काम का रिकार्ड ठीक है अर्थात् जिसकी फाइल में कोई अवांछनीय टिप्पणी (Adverse entry) नहीं है और अधिकारी प्रसन्न है तो कर्मचारी को बुलाकर कह सकता है कि नियमानुसार तुम्हारा स्थानान्तरण का समय आ गया है। तुम जहां कहो वहां भेजना अवश्य मेरे हाथ में है (Your transfer is due but I can send you to a place of your choice).

खुदी को कर बुलन्ब इतना कि हर तकदीर से पहले।
खुदा बन्दे से ये पूछे बता तेरी रजा क्या है।।

जिस मनुष्य को यह विश्वास है कि जीवन में मैंने कभी कोई दुष्कर्म नहीं किया, सदा कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहा हूं, इसलिए मुझे सद्गति मिलेगी, वह शान्त मन से मृत्यु का आलिंगन करता है।

जन्म का पापी है जो डरता वही काल से।
जिसका खाता साफ है क्या डर उसे पडताल से।।

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह नया शरीर पाकर पूर्वापेक्ष्या अधिक सत्यनिष्ठ और परोपकारी जीवन पाने की आशा से उत्साहित होकर हंसते-खेलते मृत्यु का स्वागत करता है। इसके विपरीत जिन्होंने जीवन में अच्छे कर्म नहीं किये होते वे अगले जन्म में मिलने वाली अन्धकारमय (**अन्धेन तमसावृता**) योनियों और यातनाओं से घबरा कर भयभीत होते हैं। देशभक्तों के हंसते-हंसते और महमूद गजनवी के रोते-बिलखते और संज्ञाहीन होकर फांसी पर चढने में उनके अतीत में किये गये फलस्वरूप मिलने वाले भावी जीवन के प्रति विश्वास और आशंका बहुत बडा कारण है। पहले से तैयार सत्कर्मों की नौका पर चढ कर परलोक की यात्रा करने वाले को डूबने का भय

---

1. The last day (death) does not bring extinction, but a change of place._ Cicero.

नहीं सताता।

जब हमारा शरीर बिदा होता है तो प्राण शरीर से उत्क्रमण करता है। हमारे शरीर में कुल ७२ करोड ७२ लाख नाडियां बतायी जाती हैं[१] जिनमें प्राण संचरण करते हैं। मरणवेला में जब प्राण इन सभी नाडियों में से एक साथ निकलता है तो समूचे शरीर में एक विशेष प्रकार का तनाव पैदा होता है। शरीर का एक-एक अंग प्रत्यंग टूटने लगता है। ऐसे समय में असहय वेदना का अनुभव होना अवश्यंभावी है। जब चित्त को एकाग्र किया जाता है तो प्राण ऊपर की ओर गति करने लगता है। प्राणों के इस प्रकार ऊपर उठने की क्रिया को प्राणोत्थान कहते हैं। प्राणों के उत्क्रमण का अभ्यास करके योगिजन स्वेच्छा से प्राणों को उत्क्रमित करके ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्क) में स्थापित कर लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्राण निकलते समय होने वाले कष्ट से छुटकारा मिल जाता है और वे हंसते शरीर से विदा होते रहते हैं।

शास्त्रों में तीन प्रकार की एषनायें होती हैं - पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। इनके बिना संसार का व्यापार - विस्तार नहीं चल सकता। इसलिए इन्हें मनुष्य के लिए आवश्यक बताया है। एषणा का आतिशय्य तृष्णा कहाता है। दोनों में मन की एक ही वृत्ति काम करती है। परन्तु जहां एषणा का प्रयोग सीमित दायरे में होता है, वहां तृष्णा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य का स्वभाव है। जब इस प्रवृत्ति की अतिशयता कुण्ठा में परिवर्तित हो जाती है तो अपरिमित चाह का मनुष्य के मन पर आधिपत्य हो जाता है। तब उससे लोभ, मोह, राग, स्वार्थ, वासना, लोलुपता आदि सभी का पोषण होता है। चाह कभी पूरी नहीं होती। यह अत्यन्त चाह मृत्यु के समय कुण्ठा में परिवर्तित होकर मनुष्य के असीम दुःख का कारण बन जाती है। योगवासिष्ठ में भगवान् राम कहते हैं - "हे ब्रह्मण ! जीवों के हृदय में स्थित तृष्णा जैसी तीक्ष्ण न तो तलवार की धार है, न अग्नि की चिंगारियां और न बन्दूक की गोलियां। संसार में जितने भी दोष हैं उनमें एक तृष्णा ही दीर्घकालीन दोष है, दुःख है जो अन्तःपुर में रहने वाले को भी भीषण संकट में डाल देती है।"[२] गीता के अनुसार तृष्णा व आसक्ति की उत्पत्ति रागरूप रजोगुण से होती है[३] जिससे जीवात्मा कर्मों १.

---

१. हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्त्राणि भवन्ति। प्रश्न. उप. ३।६ अर्थात् १०१ गुणा १०० गुणा ७२००० = ७२७२०००००

२. नास्ति धारा न वज्रार्चि न तृप्यायः कणार्चिषः। तथा तीक्ष्ण यथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता॥ सर्वसंसार दोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा। अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥

३. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्। गीता २३।७

तथा उनके फल की आसक्ति से बन्ध जाता है। रजोगुणी होने से उसमें स्थिरता नहीं है, इसलिए उसे सीमा में नहीं बांधा जा सकता। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि "तृष्णा लता के समान बढती ही जाती है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक वह ऐसे दौडती है जैसे बन्दर एक फल से दूसरे फल की इच्छा से बन में कूदता फिरता है।" समस्त दु:खों का मूल तृष्णा को मानते हुए महात्मा बुद्ध ने उपदेश सुनने के लिए आये हुए अपने भक्तों से कहा कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो तृष्णा की जड़ को खोद डालो।[२]

भोग और त्याग का समन्वय वैदिक आदर्श है। वर्णाश्रम व्यवस्था तथा यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला सभी एषनाओं से स्वत: मुक्त हो जाता है। संन्यास की दीक्षा लेते समय जब दीक्षार्थी यह घोषणा करता है -**' पुत्रैषणा मया परित्यक्ता, वित्तैषणा मया परित्यक्ता, लोकैषणा मया परित्यक्ता' (शतपथ १४।६।४।१)** तब यह स्पष्ट हो जाता है कि तृष्णा का मन पर अधिकार न होने देने में वह सफल हो गया है और संन्यास आश्रम में प्रवेश उसकी इस सफलता की सार्वजनिक घोषणा है। जीवन पर्यन्त जूझते रहने पर ही तृष्णा पर विजय पाई जा सकती है और मृत्यु के भय या कष्ट से मुक्ति मिल सकती है।

जिस राग से तृष्णा उत्पन्न होती है उसी से मोह-ममता की उत्पत्ति होती है। सुख में अथवा उसके साधन में जो लोभ होता है वह 'राग' कहाता है **(सुखानुशयी रागः- योग २।७)**। राग के कारण किसी वस्तु के प्राप्त करने की चाह को एषणा और उसके आतिशय्य को तृष्णा कहते हैं। उसके पकडे रहने या न छोडने की वृत्ति मोह कहाती है और उससे जो सम्बन्ध सूत्र बनता है, वह ममता कहाता है। कितने ही लोगों को मरते देखा-सुना जाता है, किन्तु हमें दु:ख नहीं होता। किसी पडौसी या परिचित की मृत्यु की सूचना मिलने पर दु:ख अवश्य होता है, किन्तु क्षणिक। पर जब हमारे किसी घनिष्ठ, सम्बन्धी या सन्तान की मृत्यु होती है तो हम पर दु:ख का पहाड टूट पडता है। जिस कारण यह अन्तर होता है उसी को मोह-ममता कहते हैं। हम रोते हैं, पर मृतक के लिए नहीं, उसके साथ उपने सम्बन्ध और उस सम्बन्ध से अपने को होने वाले सुख के लिए रोते हैं **''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृहद्.उप.)**। जब किसी एक के बिछुडने पर हमें इतना दु:ख होता है तो जिसे मृत्यु के कारण घर-द्वार, धन-सम्पत्ति, सगे सम्बन्धी, बाल-बच्चे आदि सभी को एक साथ छोडना पड रहा हो, उसके दु:ख का क्या ठिकाना ? मृत्यु से भयभीत होने के इस कारण को दूर करने के लिए भोग और त्याग के समन्वय पर आधारित आश्रम व्यवस्था में वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों का विधान किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम की २५ वर्ष की

१. धम्मपद, तण्हावग्गो २. तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।
तण्हायमूलं खणथ उसीरत्थो व वीरणम्॥ धम्मपद, तण्हावग्गो ६६

अवधि में माता पिता आदि दूर गुरुकुल में, वानप्रस्थ आश्रम के २५ वर्षों में परिवार से दूर जंगल में अथवा किसी आश्रम में अथवा किसी प्रकार की समाजसेवी संस्था में और संन्यास आश्रम के २५ वर्षों में सब प्रकार के सम्बन्धों का परित्याग करके यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करने वाले जो लोग जीते जी क्रमश: सबसे मोह ममता का नाता तोडने का अभ्यास करते हैं, उन्हें मरणकाल में मोह-ममता के कारण होने वाला दु:ख कैसे सता सकता है ?

जब मृत्यु अवश्यंभावी है तो उससे बचने का उपदेश क्यों दिया जाता है ? क्यों उसके लिए प्रार्थना की जाती है - **'मृत्योर्मा ऽमृतं गमय'** (बृहद्. उप. १।३।२८) ?

वस्तुत: जो दु:ख आगत है अर्थात् आ चुका है और भोगा जा चुका है, वह तो भोगे जाने से समाप्त हो गया । जो दु:ख वर्तमान में चालू है उसे बीच में रोका नहीं जा सकता । उसे भोग कर ही उससे छुटकारा मिल सकता है । पैदा तो हम हो चुके और जो पैदा होता है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, इस न्याय के अनुसार इस जीवन में हम मृत्यु से कदापि नहीं बच सकते । ऐसी अवस्था में महर्षि पतञ्जलि का कथन है - **हेयं दु:खमनागतम्** ' (योग २।१६) जो अनागत दु:ख अनागत है अर्थात् अभी आया नहीं है, आगे आने की संभावना है, उसे दूर रखने के लिए उपाय करो जिससे वह न आने पाये । फलत: अनागत दु:ख को ही 'हेय' कहा गया है । पैदा होने वाले को मरना ही होगा । जो बार-बार पैदा होगा वह बार-बार मरेगा । इसलिए ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने इस महत्तम दु:ख का सूक्ष्मैक्षिका से विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला कि वर्तमान में मरने के बाद फिर न मरना पडे, इसके लिए जन्म का निरोध करना होगा । जब तक जन्म होता रहेगा तब तक मृत्यु को नहीं रोका जा सकेगा । अत: 'अभिनिवेश' (मृत्यु) क्लेश से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है कि जन्म के क्रम को रोका जाय । जब तक जन्म नहीं रुकेगा तब तक न मरण रुकेगा और न मरणत्रास। इस रहस्य को न समझ पाने के कारण मैक्समूलर ने लिखा -

" You see here (in India) the fear of another life, the fear, not of death, but of birth runs through the whole of Indian philosophy. - Maxmuller: The Vedanta Philosophy.

महर्षि गौतम ने अपने न्याय दर्शन में इस विषय का तर्क प्रतिष्ठित विवेचन करते हुए लिखा है -

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्ग: ।।१।१।२

दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के उत्तर-उत्तर के, आगे-आगे के नष्ट हो जाने पर उसके अनन्तर के - अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से मोक्ष होता है।

सूत्र में समस्त-असमस्त चार पद हैं। पहले समस्त पद में दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान - ये पांच पदार्थ कहे हैं। इसमें उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दु:ख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। यह एक तर्कपूर्ण व्यवस्था है कि कारण का नाश हो जाने पर कार्य का नाश हो जाता है। फलत: मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दु:खों का नाश संभव है।

योग के अनुष्ठान द्वारा जो अपने आपको जन्म-निरोध के योग्य बना लेते हैं वे मृत्यु को हितकारी जानकर एक बार उसका अभिनन्दन करके सदा के लिए उसे बिदा कर देते हैं।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के दशम मण्डल के अठारहवें सूक्त के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं -

परं मत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते श्रृण्वते ते ब्रवीमि मा न: प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥१॥

भावार्थ - मारने वाला काल पुन: पुन: जन्म धारण करने वाले साधारण जनों को पुन: पुन: मारता रहता है। परन्तु देवयान - मोक्षमार्ग की ओर जाने वाले मुमुक्षुओं को पुन: पुन: या मध्य में नहीं मारता। उन्हें पूर्ण आयु प्रदान करता है।

मृत्यो: पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयु: प्रतरंदधाना:।
आप्यायमाना: प्रजया धनेन शुद्धः पूता भवत यज्ञियास:॥२॥

भावार्थ - अध्यात्म यज्ञ करने वाले मुमुक्षुजन मृत्यु के कारणरूप अज्ञान और विषयसेवन को त्यागते हैं और स्वास्थ्यपूर्ण लम्बी आयु को प्राप्त करते हैं। सन्तान तथा ऐश्वर्य से भरपूर होते हुए शुद्ध तथा पवित्र अन्त:करण वाले बन जाते हैं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नोअद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयु: प्रतरं दधाना:॥३॥

भावार्थ - जो जीव मृत्यु के कारणों - अज्ञान व विषयसेवन - से अलग हो जाते हैं वे अपने जीवन में परमात्मा की कल्याणकारी स्तुति करते हुए दीर्घ तथा स्वास्थपूर्ण आयु प्राप्त करते हैं और जीवन का हर्ष, विनोद श्रेष्ठ मार्ग पर चलते हुए पाते हैं।

इमं जीवेभ्य: परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।

शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ।।४।।

भावार्थ - परमात्मा दीर्घ जीवन चाहने वाले मुमुक्षुजनों के लिए नियत परिधि बनाता है । कोई भी मुमुक्षु उसमें रहकर शीघ्र मृत्यु का ग्रास नहीं बनता, और सौ या अधिक वर्षों तक जीता है । ब्रह्मचर्यरूप पर्वत को मृत्यु नहीं लांघ सकती ।

भस्मान्तरं शरीरम्

मूलतः ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों ही अमृत हैं । 'अमृत' शब्द का धात्वर्थ है - **'यो न मृतः'** अर्थात् जो नहीं मरा । ईश्वर, जीव और प्रकृति में से कोई कभी नहीं मरता । जो मरता नहीं वह उत्पन्न भी नहीं होता । इसलिए तीनों ही नित्य हैं । परन्तु तीनों की अमरता का स्वरूप भिन्न है । प्रकृति अमर है, किन्तुपरिणामी होने से दिन रात बदलती रहती है, जीवात्मा अमर है किन्तु सामान्य दशा में उसके एक शरीर को छोड कर दूसरे शरीर को धारण करते रहने से उसके जीने मरने का भ्रम होता है, क्योंकि आत्मा का शरीर से संयोग जन्म और वियोग मृत्यु कहाता है । यदि कायापलट का नाम मृत्यु है तो प्रकृति और जीवात्मा इससे सर्वथा मुक्त नहीं है । पूरी तरह अमृत केवल ईश्वर है, इसलिए अमृत संज्ञा मुख्यतः उसी की है । नित्यता ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों में समान है, चेतनता ईश्वर और जीवात्मा में समान है, किन्तु आनन्द केवल ईश्वर में है । इस प्रकार जहां प्रकृति केवल सत् है, वहां जीवात्मा सच्चित् तथा परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है ।

मृत्यु अवश्यंभावी है । जब मृत्यु आयेगी तो शरीर का प्राणवायु निकल कर विश्व के प्राण में विलीन हो जायेगा, क्योंकि विश्व की प्राणशक्ति ही शरीर में काम कर रही है ।वायु उपलक्षण है । भाव यह है कि पृथिवि, जल, वायु, अग्नि और आकाश नामक जिन तत्वों से शरीर का निर्माण हुआ है वे सभी अपने मूल में विलीन हो जाते हैं । विज्ञान का अटल नियम है कि वस्तु तत्वतः नष्ट नहीं होती, रूपान्तरित होती है । शरीर तो भौतिक तत्वों से - परमाणुओं के संयोग से बना है । एक समय आता है जब इन परमाणुओं का वियोग होने से शरीर नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने कारण में लय हो जाता है । पर चेतना - आत्मा तो परमाणुओं के संयोग से नहीं बना । इसलिए पांचभौतिक शरीर की तरह परमाणुओं में खण्ड-खण्ड होकर विलीन नहीं हो सकता । शरीर के न रहने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है और एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है । शरीर के रूपान्तरण को मृत्यु और आत्मा के रूपान्तरण को पुनर्जन्म कहते हैं।

मृतदेह का क्या किया जाय, इस विषय में संसार में अनेक प्रथायें प्रचलित हैं जिनका विवरण यहां हम श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की पुस्तक 'संस्कार चन्द्रिका' से उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं -

१. ईजिप्ट में मुर्दे को मम्मियों की तरह सुरक्षित रखना - अनेक जातियों में यह समझा जाता रहा है कि जब कोई मर जाता है, तब उसका शरीर से सम्बन्ध सदा के लिए नहीं छूटता। शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किसी अदृश्य तौर पर बना रहता है। अगर मृत आत्मा इस लोक को छोड कर किसी अन्य लोक में चला भी जाता है, तो भी उसका इस लोक तथा इस देह से नाता बना रहता है। मृत व्यक्ति से भय तथा उसके प्रति प्रेम - ये दोनों भावनायें मनुष्य को नहीं छोडती। यही कारण है कि ये जातियां मृत देह को किसी न किसी प्रकार सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है। यह शायद इसलिए है, क्योंकि आत्मा की अमरता का विचार मनुष्य के लिए एक प्रिय विचार है। और यदि आत्मा अमर है, तो अविकसित मन के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि वह आत्मा के लिए उसके शरीर की जिस किसी उपाय से भी हो सके रक्षा करे ताकि वह शरीर आत्मा के काम आ सके। अनेक जातियों में मृत देह को भूमिसात् करते हुए उसके बर्तन, उसके खाने का सामान, उसका फर्नीचर आदि सब उसके साथ रख देने की प्रथा है। कई जातियों में बच्चे के मरने पर स्त्रियां अपने स्तनों से दूध निकालकर उसके मुंह में भर देती हैं ताकि बच्चा उस दूध का सेवन कर सके। बलगेरिया में वहां का पुरोहित कब्र बनाता हुआ उसमें एक छेद रख देता था ताकि उसमें से मृत व्यक्ति को पानी तथा भोजन पहुंचता रहे। कई जातियों में जब उनका मुखिया राजा मरता था तब उसकी कब्र इतनी बडी बनाई जाती थी कि उसके गुलाम और स्त्रियां भी उसमें मार कर वहां रक्खी जा सकें। कभी-कभी मारकर और कभी-कभी मुखिया की जीवित पत्नियों को मृत व्यक्ति के साथ गाड दिया जाता था ताकि वे उसके काम आ सकें।

इन सब प्रथाओं का मूर्तिमान् उदाहरण इजिप्ट के ममी (Mummies) हैं। प्राचीन ईजिप्शियनों को सबसे बडी चिन्ता इस बात की होती थी कि अपने मृत राजा का शरीर किस प्रकार औषधियों से अनुभावित (annoint) करें ताकि मृत व्यक्ति की आत्मा का परलोक (Osiris) से इस लोक के अपने शरीर के साथ आना जाना बना रहे। यही कारण था कि शरीर को जलाते नहीं थे, कब्र में सुरक्षित रखते थे। ईजिप्ट में इन राजाओं की जिन्हें फैरोहा कहा जाता था बडी-बडी कब्रें बनी हुई हैं जिन्हें पिरेमिड (Pyramids) कहा जाता है। इन पिरेमिडों में प्राचीन राजाओं के शरीर औषधियों से अनुभावित हुए पडे हैं। साथ ही उनके नौकर चाकर, उनकी स्त्रियां, उनके

फर्नीचर आदि सामान भी उनके देहों के साथ सुरक्षित हैं । ये पिरामिड संसार के महान् आश्चर्यों में गिने जाते हैं ।

२. ईसाइयत में मुर्दे को गाडना - ईसाई धर्म का मूल यहूदी धर्म है । यहूदी लोग मुर्दे को गाडते थे । ईसामसीह भी यहूदी थे । इसलिए जब वे मरें तो उन्हें एक पहाडी में गाडा गया । ईसाई मानते हैं कि तीसरे दिन वे कब्र में से निकल गये और परमात्मा के पास चले गये । इसी की स्मृति में ईसाइयों ने मुर्दों को गाडना जारी रक्खा । उनका विश्वास है कि जो ईसामसीह में विश्वास रखते हैं, उनके लिए कब्र एक विश्वास और आराम की जगह है, और जब तक कब्र खुलेंगी नहीं तब तक वे उनमें आराम से सोते रहेंगे । इसके बाद सृष्टि के अन्त का दिन आयेगा जब सब कब्रें खुलेंगी, सब उठ खडे होंगे और सब देखेंगे कि परमात्मा के दायें हाथ मसीह बैठे हैं और ईसा पर विश्वास लाने वालों तथा अविश्वासियों के भाग्य का निपटारा हो रहा है । इस समय को वे (Resurrection) का दिन कहते हैं । हजरत मसीह में विश्वास लाने वाले स्वर्ग में तथा अविश्वासी नरक में सदा के लिए भेज दिये जायेंगे । आत्मा को कर्मों का इस प्रकार का फल मिल सके - इसलिये ईसाइयों में मृत व्यक्ति के शरीर को कब्र में संभाल कर रक्खा जाता है ।

३. इस्लाम में मुर्दे को गाडना - जिस कारण ईसाई मुर्दे को गाडते हैं लगभग वही कारण इस्लाम में मुर्दे को गाडने का है । उनका कहना है कि जब सृष्टि का अन्त - अर्थात् कयामत का दिन आयेगा तब 'सुर' नाम की एक तुरही बजेगी, सब कब्रें खुल जायेंगी और जन्नत और दोजख का फैसला होगा । प्रश्न उठ सकता है कि उस समय जो जीवित होंगे, मरे नहीं होंगे इसलिए उनकी कब्रें बनी नहीं होंगी, उनका क्या होगा ? इसका उत्तर वह यह देते हैं कि कयामत के दिन की तुरही बजते ही जो भी उस समय जिन्दा होंगे वे सब मर जायेंगे । प्रश्न हो सकता है कि इतने दिन कब्र में पडे-पडे जिस्म मट्टी हो जायेगा, फिर मुर्दे कैसे उठ खडे होंगे ? डॉ. सेल ने इस प्रश्न को कुरान के अंग्रेजी अनुवाद में उठा कर लिखा है कि हजरत मुहम्मद ने इस समस्या का यह हल निकाला था कि शरीर ही मट्टी हो जायेगा, परन्तु एक हड्डी बच जायेगी जिसका नाम 'अल अज्ब' है जिसे अंग्रेजी में Os Cocoygis या रीढ की अन्तिम हड्डी कहा जाता है । इस्लाम में यह विचार यहूदी धर्म से लिया गया है । वे इस हड्डी को 'लुज' (Luz) कहते हैं। कयामत के दिन से ४० दिन तक बारिश होगी । जिससे जैसे बारिश पडने से बीज से पौधे उठ खडे होते हैं वैसे 'अल अज्ब' से सब मुर्दे उठ खडे होंगे । यहूदी धर्म में कहा गया है कि कयामत के समय ओस पडेगी जिसके कारण 'लुज' रीढ की हड्डी के भीग जाने से मुर्दे उठ खडे होंगे ।

इस्लाम के अनुसार मुर्दे को किब्ला अर्थात् मक्काशरीफ की तरफ मुंह रख के दफनाया जाता है। कब्र इतनी गहरी बनाई जाती है ताकि बक्त पडने पर मुर्दा आसानी से उठ कर बैठ सके। कब्र में 'मुनकिर' और 'नकीर' - दो फरिश्ते मुर्दे के दायें-बायें बैठ कर उससे उसके अच्छे बुरे कर्मों की पडताल करेंगे जिसके अनुसार उसे जन्नत या दोजख में भेजा जायेगा। क्योंकि मुर्दे के साथ यह सब कुछ होना होता है, इसलिये इस्लाम में मुर्दे को जलाने के स्थान में गाडना जरुरी है ताकि वह बना रहे।

४. पारसी धर्म में मुर्दे को हवा में खुला छोड देना - पारसियों में मुर्दे को न गाडा जाता है, न जलाया जाता है। मुर्दा शरीर को एक बुर्ज पर खुला नंगा रख दिया जाता है। बुर्ज पर रखने का अर्थ है - जमीन पर, मट्टी पर, ईंटों पर, पत्थरों पर - कहीं भी ऐसे स्थान पर जहां अन्तरिक्ष के पक्षी उसे खाकर खत्म कर दें। बम्बई में एक बुर्ज बना हुआ है जिसे Tower of Silence कहते हैं। मुर्दे को लाकर उस पर के तख्तों पर उसे नंगा रख दिया जाता है। ले जाने वालों को 'नासासालार' कहते हैं। वहां सैंकडों गिद्ध लाश को खाने के लिये मंडराया करते हैं। लाश के वहां रखते ही ये गिद्ध एक दो घण्टों में ही उसका तिया-पांचा करदेते हैं, खिर्फ हड्डियां रह जाती हैं। ये लोग न तो प्राचीन ईजिप्शियन्स की तरह सुरक्षित रखते हैं, न उसे जमीन में गाडते हैं। जिस प्रकार जीवित अवस्था में प्राणी शुभ कार्य करता था, उसी प्रकार मरने पर वह पक्षियों की क्षुधा निवृत्ति के शुभ काम आ जाता है। टावर आफ साइलेंस पर दिनों दिन हड्डियों का ढेर बढता जाता है।साल में दो बार 'नासासालार' टावर का फट्टा हटा कर उसे साफ कर देते हैं, और हड्डियां नीचे कुएं में जा गिरती हैं।

पारसियों के 'टावर आफ साइलेंस' पर मुर्दों को खुला छोड देने की एक घटना का उल्लेख रडयार्ड किपलिंग (Rudyard Kipling - 1865-1936) के, जिन्हें १९०७ में साहित्य का नोबल पुरस्कार मिला था, जीवन के संस्मरणों में मिलता है। वे भारत में उत्पन्न हुए थे और बरसों यहां पत्रकारिता का कार्य करते रहे। बचपन में उनके माता पिता क निवास-स्थान पारसियों के 'टावर आफ साइलेंस' के पास ही था। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके पिता के बगीचे में एक बच्चे की गली सडी बांह कहीं से आ पडी। किपलिंग ने अपनी मां से इसका रहस्य जानना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे डांट दिया। इस बीच किपलिंग की आया ने इसका रहस्य खोल दिया। मुर्दे को इस प्रकार खुला छोड देने से इस प्रकार की घटनाओं का हो जाना कोई बडी बात नहीं है, परन्तु ऐसी घटनाओं को देख कर चित्त को क्षोभ अवश्य होता है। इस घटना का उल्लेख श्री बसन्त ए. शाहा ने १८ सितंबर १९७६ के इलस्ट्रेटिड वीकली में किया है।

५. हिन्दुओं में मुर्दे को जला दिया जाता है - हमने देखा कि जो लोग मुर्दे को सुरक्षित रखते हैं या कब्र आदि में गाढ देते हैं, वे मर जाने पर भी जीव के शरीर के साथ किसी न किसी प्रकार के संबन्ध की कल्पना बनाये रखते हैं । हिन्दुओं में भी शव को जला दिये जाने पर भी पुराणमतावलम्बी श्राद्धादि के रूप में मृतक के शरीर के साथ तो नहीं, परन्तु आत्मा के साथ संबन्ध बनाये रखने का सा व्यवहार करते हैं । परन्तु शुद्ध वैदिक धर्म में शरीर के भस्मित हो जाने पर मृतक के शरीर तथा आत्मा का कोई संबन्ध नहीं रहता ।'भस्मान्तं शरीरम्' के अनुसार शरीर के साथ आत्मा का संबन्ध उसके भस्म हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है, सम्बन्धियों का भी शरीर के साथ तो कोई नहीं, परन्तु आत्मा के साथ भी स्मृतिमात्र का संबन्ध रह जाता है, अन्य कुछ नहीं । वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाये तो यही बात युक्ति की कसौटी पर ठीक बैठती है ।

इसके अतिरिक्त हिन्दू अथवा वैदिक धर्मी मुर्दे को इसलिए भी निःसंकोच जला देते हैं क्योंकि उनके कर्मफल के लिए यहूदी, ईसाई या मुसलमानों की तरह कयामत के दिन तक इन्तजार करना जरुरी नहीं है । कर्म का फल शरीर के साथ बंधा हुआ नहीं है, आत्मा के साथ कर्म के फल का संबन्ध है । शरीर के भस्म हो जाने पर भी आत्मा को कर्म का फल मिलता है, इसके लिए शरीर को संभाल कर रखने या जमीन में दबा कर रखने की जरुरत नहीं है ।

हिन्दुओं में कई लोग संन्यासियों का आत्मदाह करने के स्थान में उनका जल-प्रवाह करते हैं । मनुस्मृति (६-४३) में संन्यासी के लिए लिखा है :-

अनग्निः अंनिकेतः स्यात् ग्रामं अन्नार्थं आश्रयेत् ।
उपेक्षकः असंकुसुकः मुनिभाव समाहितः ।।

- अर्थात् संन्यासी 'अनग्निः' होता है - आहवनीय आदि अग्नियों से रहित होता है । उसके लिए कहा गया है कि वह कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे, और अन्न वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय ले, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ।

इस श्लोक के फुटनोट में संस्कार विधि में लिखा है -'इसी (अनग्नि) पद से भ्रान्ति में पड कर संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते - यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहां आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोडना है, स्पर्श या दाहकर्म छोडना नहीं है ।' इसलिये ऋषिदयानन्द के अनुसार संन्यासियों के मृत शरीर का भी दाह संस्कार ही होना उचित है ।

६. यूरोप और अमरीका में शव दाह - यह शरीर जिन तत्वों से बना है, वे हैं - पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु। विश्व भर के लोग मरने पर मृतक शरीर को इन्हीं तत्वों में से किसी एक की भेंट कर देते हैं। जो लोग गाडते हैं वे पृथिवी की, जो जल प्रवाह कर देते हैं वे जल की, जो दाहकर्म करते हैं वे अग्नि की, और जो शव को खुले में छोड देते हैं वे मृतक को वायु की भेंट कर देते हैं। ये चारों तत्व मृत शरीर को आत्मसात् कर सृष्टि तत्वों में अणुकृत् कर देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि मृतदेह का कुछ नहीं बचता। कुछ परमाणुओं में विच्छिन्न हो जाते हैं, कुछ मीन, पशु-पक्षियों के पेट में चले जाते हैं। जिन्हें नदी में बहा देते हैं उन्हें जल के जन्तु और जिन्हें खुला छोड देते हैं उन्हें पशु-पक्षी समाप्त कर देते हैं। सोचने की बात यह है कि इन सब में वैज्ञानिक विधि कौन सी है ?

कोई समय था जब यूरोप में सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। उस समय रोमन राज्य में उच्च वर्ग के लोग मुर्दों को जलाते थे, गाडते नहीं थे। रोमन लोगों की देखा-देखी यूरोप में भी मुर्दों को जलाया जाता था। रोमन लोगों ने मुर्दों को जलाने की रीति ग्रीक लोगों से ली थी। ग्रीस पर किसी समय भारत की विचारधारा का प्रभाव था। पाइथागोरस, जो ग्रीक दार्शनिक था, भारत आया था। प्लेटो की विचारधारा में तो भारत का प्रभाव स्पष्ट दीखता ही है। भारत से ग्रीस, ग्रीस से रोम, रोम से यूरोप में मुर्दों को जलाने की रीति सर्वत्र फैली। इसके बाद जब ईसाइयत का प्रचार हुआ और सृष्टि की समाप्ति के दिन हर व्यक्ति के सशरीर उठ खडे होने (Resurrection) के विचार ने जन्म लिया, तब मृतक को जला देने का चर्च की तरफ से विरोध हुआ। इसलिये विरोध हुआ कि यदि शव को जला दिया गया, तो जब आ़खिरी दिन हर व्यक्ति के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा होकर स्वर्ग-नरक का बंटवारा होगा, तब शरीर के भस्म हो जाने पर किसे स्वर्ग मिलेगा, किसे नरक मिलेगा ? ईसाइयत के फैलने की वजह से पाश्चात्य जगत् में तो शवदाह पर रोक लग गई, परन्तु पूर्वी देशों में शवदाह बदस्तूर चलता रहा। भारत, वर्मा, जापान में मुर्दे को जलाया ही जाता रहा। पूर्वी देशों में सिर्फ चीन अपवाद रहा क्योंकि उनकी विचारधारा यह थी कि चीनी कहीं भी मरे उसे चीन की धरती में ही गडना है। अब वहां भी दाह की विधि चल पडी है।

१८७४ तक विश्व में मृतक के शरीर को निपटाने की यह स्थिति थी। इस समय इंगलैण्ड में महारानी विक्टोरिया का सर्जन सर हैनरी थाम्पसन था। १८७३ में वायना में एक प्रदर्शिनी हुई जिसमें मृतदाह करनकी एक भट्टी दिखलाई गई थी जो इटली में कहीं-कहीं मुर्दों को जलाने के काम आती थी। सर थाम्पसन इस मृतदाह की भट्टी को देखकर बडे प्रभावित

हुए । उन्होंने ब्रिटेन में श्मशानों की जो दुर्गति देखी थी, इस भट्टी को देखकर उनकी वे स्मृतियां ताजा हो गई और वे सोचने लगे कि शवों का निपटारा करने के लिए इस प्रकार की श्मशानें क्यों न बनाई जायें जिनमें शवों को गाडने के स्थान में उन्हें जलाया जाये । परिणामस्वरूप उन्होंने शवदाह के विचार को मूर्तरूप देने के लिए एक संस्था बनाई जिसका नाम था -' Cremation - The treatment of the Body after Death '। सर थाम्पसन के विचारों के साथ उस समय के वैज्ञानिकों, लेखकों, कलाविदों ने सहमति प्रकट की । इन लोगों ने मिलकर १३ जनवरी १८७४ में जिस 'क्रिमेशन सोसाइटी आफ इंगलैण्ड' की स्थापना की उसके घोषणापत्र में कहा गया था -

"The promoters disapprove of the present system of burying the dead and wish to substitute some method which would rapidly resolve the body into it's component elements by a process which could not offend the living and would render the remains perfectly innocuous."

अर्थात् इस संस्था के अभिभावक मुर्दे गाडने की प्रचलित नीति का अनुमोदन नहीं करते और चाहते हैं कि इसकी जगह कोई ऐसी विधि अपनाई जाये जिससे शरीर शीघ्र से शीघ्र अपने घटक-तत्वों में विलीन हो जाये और जिस रीति से न तो जीवित व्यक्ति तिरस्कृत हों और साथ ही मृत शरीर भी सर्वथा दोषरहित हो जाये ।

हम पहले लिख आये हैं कि मृत को गाडना ईसाइयत की दृष्टि से क्यों धार्मिक कृत्य था । शरीर को जला दिया जाये तो पुनरुत्थान (Resurrection) किसका हो ? इस प्रकार इस संस्था के बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण संस्था को शवदाह के लिये कोई भूमि नहीं मिली, परन्तु संस्था के संचालक इस दिशा में लगातार प्रयत्नशील रहे । अन्त में ४ साल बाद उन्हें सर्रे जगह पर वोकिंग स्थान में जगह मिली जहां इंगलैण्ड में पहला दाह-श्मशान (Crematorium) बना । इसके बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण कोई व्यक्ति शव को जलाने के लिये तय्यार नहीं हुआ । १८८३ में डॉक्टर विलियम प्राइस ने अपने मृत बच्चे का दाह-कर्म करने का प्रयत्न किया जिस कारण उस पर मुकदमा चलाया गया । अन्त में अदालत ने यह फैसला दिया कि शव का दाहकर्म अवैधानिक नहीं है ।

७. यूरोप में शवदाह कानून - १९०२ में इंगलैण्ड में पहले पहल 'शवदाह विधेयक' (Cremation Act) पास हुआ । इसके पास होने के बावजूद शवदाह के लिये इने-गिने व्यक्ति ही तैयार होते थे । इस दिशा में विशेष प्रगति द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में हुई । मरने वालों की संख्या

इतनी अधिक थी कि दफनाने की तंगी होने लगी, क्योंकि इनके लिये भूमि पर्याप्त नहीं थी। इंगलैण्ड में यह अनुभव किया जाने लगा कि मुर्दों को भूमि में गाडना भूमि का दुरुपयोग करना था। इससे दाह करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। २० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शवग्रहों में जलाये जाने वाले मृतकों की संख्या ३ लाख प्रतिवर्ष बढने लगी। इसका अर्थ यह है कि इंगलैण्ड में जितने व्यक्ति मरते थे उनमें से आधे जलाये जाने लगे। इस बीच 'दाहग्रहों' (Crematoria) की संख्या १९० तक पहुंच गई।

इंगलैज्ड में दाहकर्म की देखा-देखी यूरोप के अन्य देशों में भी शवदाह का अनुकरण होने लगा। स्केण्डेनेवियन देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड में ३० प्रतिशत मुर्दे जलाये जाने लगे। हर देश में ऐसे कानून बनाये गये जिनमें शवदाह को वैधता दी गई। शवदाह पर एक कानूनी आपत्ति थी। मृतक को जला देने से फिर उसके संबन्ध में किये गये किसी अपराध की जांच नहीं कराई जा सकती थी, क्योंकि उसके जल जाने से किसी भी प्रकार की साक्षी नष्ट हो जाती थी। अगर मृतक की हत्या की गई है या उसने आत्मघात किया है - इस सबकी जांच कब्र में पडे शव को निकाल कर तो की जा सकती थी, उसके जला दिये जाने पर नहीं। इसलिये यूरोप में शवदाह के संबन्ध में जो कानून बने उनमें ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये गये जिससे इस बात की रोकथाम हो सकती थी। मुर्दा जलाने के लिये डॉक्टरी सर्टिफिकेट लेना तथा इसी प्रकार के अन्य प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

अमरीका में शवदाह का सूत्रपात १८७६ से हुआ। अमरीका की 'शवदाह संस्था' (Cremation Society of America) के आंकडों के अनुसार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमेरिका में २३० शवदाह गृह बन चुके थे और १९७० में एक वर्ष में ८८००० (अठास्सी हजार) मृतकों का दाह संस्कार हुआ था।

यूरोप तथा अमरीका में १९३७ से प्रत्येक देश में अपनी-अपनी 'राष्ट्रीय शवदाह संस्थायें' बन गईं, और वे आपस में विचार विनिमय कर सकें - इस आशय से एक 'अन्तर्राष्ट्रीय शवदाह संगठन' (International Cremation Fedration) की भी स्थापना हो गई जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में है। यह संगठन त्रिवार्षिक कॉन्फ्रेंसें करता रहता है जिनमें शवदाह को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रमों पर विचार होता है।

हमने देखा कि जहां-जहां मुर्दे गाडे जाते थे वहां-वहां यह चेतना जागृत होती जाती है कि गाडने की अपेक्षा जलाना ज्यादा युक्तिसंगत है। इस चेतना के बढते जाने के निम्न कारण हैं -

१. मृत शरीर को जलाने से बहुत कम भूमि खर्च होती है। कब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत सी भूमि घिर जाती है।

२. कब्रिस्तान के कारण बहुत से रोग वायुमण्डल को दूषित कर देते हैं। वायु के दूषित होने से वे फैल कर समाज में रोग फैलाने का कारण बनते हैं। मुर्दो को जला देने से ऐसा नहीं होता।

३. जो जल कब्रिस्तान के पास से होकर जाता है वह रोग का कारण बन जाता है, जलाने से ऐसा नहीं होता।

४. कुछ पशु मृत शरीर को उखाड कर खा जाते हैं और रोगी अथवा सडे शरीर को ख़ाने से वे रोगी बन कर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। जलाने से यह बुराई नहीं होती।

५. कुछ कफन चोर कब्र खोद कर शरीर का कफन उतार लेते हैं। इस प्रकार मृतक के संबन्धियों के मनोंभावों को ठेस पहुंचती है। मृतक को जला देने से ऐसा नहीं हो सकता।

६. लाखों बीघा जमीन संसार में कब्रिस्तानों के कारण रुकी पडी है। जलाना शुरू करने से वह खेती तथा मकान बनाने के काम आयेगी। जिन्दों के लिये ही जमीन थोडी पड रही है, उसे मुर्दो ने घेर रक्खा है।

७. दरगाहों की समाधि पूजा, कब्रों की पूजा, पीरों की पूजा, मुर्दो की पूजा - अनेक प्रकार के पाखण्ड मुर्दो को जला देने से खत्म हो जायेंगे।

८. बहुत से पुजारी जिनका पेशा यही है कि कब्रों, दरगाहों का चढावा खायें वे लाभदायक काम पर लग कर समाज के लिये उपयोगी व्यक्ति बनेंगे।

९. इन मजारों की पूजा करने, चढावा चढाने और आने जाने में जो करोडों रुपया व्यर्थ का व्यय होता है वह बच जायेगा।

१०. सैकडों दरगाहें और मकबरे ऐसे हैं जो हजारों नहीं लाखों रुपये की लागत से बने हैं। इस प्रकार जो करोडों रुपया अनावश्यक खर्च होता है वह बच कर शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, आदि उपयोगी कार्यो पर व्यय हो सकेगा।

११. अनेक पतित लोग मुर्दो को उखाड कर उनके साथ कुकर्म करते पकडे गये हैं - इन मुर्दो की ऐसी दुर्गति नहीं होगी। कुछ तकियों और हिन्दू समाधियों पर चरस, गांजा, अफीम और शराब पी जाती है - ये दुराचार और भ्रष्टाचार भी नहीं होंगे।

इसलिये स्वास्थ्य रक्षा के विचार से, भूमि की कमी के विचार से, रुपये की बचत के विचार से और सदाचार के विचार से भी मुर्दो को गाडने की अपेक्षा जलाना ही उचित है।

इस विषय पर विचार करते हुए ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है - " गाडना सबसे बुरा है। उससे कुछ थोडा बुरा जल में डालना है क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर-फाड के खा जाते हैं। परन्तु जो कुछ हाड वा मल जल में रहेगा, वह सड कर जगत् को दुःखदायक होगा।

उससे कुछ एक थोडा बुरा जंगल में छोडना है । क्योंकि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी लूंच खायेंगे । तथापि जो उसके हाड की मज्जा और मल सडकर जितना दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा । और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है । क्याकि उसके सब पदार्थअणु होकर वायु में उड जायेंगे । — एक विश्वा भर भूमि में अथवा एक वेदी में लाखों करोडों मृतक जल सकते हैं । और कब्र के देखने से भय भी होता है । इससे गाडना आदि सर्वथा निषिद्ध है । "[१]

संस्कृत में मृत्यु के लिये **'पञ्चत्वं गत:'** का प्रयोग किया जाता है । शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश - इन पांच भूतों का संघात है । मरने के बाद शरीर के इन पांच भूतों को सूक्ष्म करके जल्दी से जल्दी अपने-अपने मूल रूप में पहुंचा देना श्रेयस्कर है । यही वैदिक पद्धति का प्रयोजन है । पृथिवी का अर्थ दृश्यमान भूमि या मिट्टी नहीं है । इसी प्रकार जल का अर्थ बहता हुआ पानी नहीं है । ये तो इनके स्थूल रूप हैं । इनका सूक्ष्मरूप अदृश्य है । मृत शरीर को जल्दी से जल्दी अदृश्य मूलभूत तत्वों के रूप में परिणत करने का एकमात्र साधन भेदन में समर्थ अग्नि है । अन्य सब साधन समय लेते हैं, अग्नि ही ऐसा साधन है जो इस काम को चटपट कर देता है । कब्र में गाडने पर मुर्दे को मिट्टी बनने में महीनों लगते हैं, जल में प्रवाह कर देने पर मृतक देह मछलियों के पेट में जाकर सडता और अपने मूलरूप में जाने में पर्याप्त समय लेता है । खुला छोड देने पर भी यही दशा होती है । हड्डियां फिर भी बची रह जाती हैं । अग्नि द्वारा दाह कर्म ही ऐसा साधन है जिससे घण्टे भर में मृत देह के सब तत्व अपने मूल रूप में पहुंच जाते हैं । श्री अत्रिदेव ने ठीक ही लिखा है कि जब मृत्यु-दण्ड के लिये हम नये-नये उपाय ढूंढते हैं जिससे मरने वाले को कम से कम कष्ट हो और प्राण जल्दी से जल्दी निकल जायें तो फिर मृतदेह को भी जल्दी से जल्दी नष्ट करने के लिये इसमें समर्थ दाहकर्मविधि को क्यों न अपनाया जाये । जिस प्रकार बिजली द्वारा फांसी दिये जाने पर बिजली की धारा सैकंड भर में मनुष्य के प्राणपखेरू लेकर उसे मुक्त कर देती है, उसी प्रकार अग्नि इस शरीर के स्थूल पंचभूतों को अपने सूक्ष्म रूप में परिणत कर यह प्रकार शरीर जहां से आया था वहीं भेज देती है ।

यह ठीक है कि मृतदेह को जलाने से किंचित् दुर्गन्ध थोडे समय के लिये होती है । किन्तु विधिपूर्वक दाहकर्म किये जाने पर उसका भी निराकरण हो सकता है । जब शरीर के बराबर घृत, सामग्री और चन्दन

---

१. सत्यार्थ प्रकाश - समुल्लास १३, पृष्ठ ७६६-६७ (रालाकट्र)

आदि का अग्नि में होम किया जायेगा तो शरीर के जलने से उत्पन्न दुर्गन्ध का अपने आप निराकरण हो जायेगा । इसीलिये ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि 'जो दरिद्र हो तो बीस सेर से कम घी चिता में न डाले । चाहे वह भीख मांगने वा जाति वालों के देने अथवा राज से मिलने से प्राप्त हो । और जो घृतादि किसी प्रकार न मिल सके तथापि गाडने आदि से केवल लकडी से भी मृतक का जलाना उत्तम है ।'[१]

सुरिनाम में राजकीय नियम से मृतदेह को गाडा जाता है । वहां के एक आर्य समाजी कार्यकर्ता श्री उदयराजसिंह वर्मा का निधन हो गया । सुरीनाम के प्रधान मन्त्री दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि तथा सन्तप्त परिवार से संवेदना व्यक्त करने उनके घर गये । औपचारिकतावश उन्होंने मृतक की पत्नी से कोई सेवा बताने के लिये कहा । पत्नी ने कहा कि मैं अपने पति की मृत देह को गाडना नहीं, जलाना चाहती हूं । मुझे इसकी अनुमति दी जाये । प्रधानमन्त्री ने कहा कि मैं राजकीय नियम के विरुद्ध अनुमति देने में असमर्थ हूं । हां, सरकारी खर्चे पर आपके पति की लाश को पडौसी देश गयाना में, जहां जलाये जाने का नियम है, भिजवा दूंगा । पत्नी बोली - आप अपने नियमों में संशोधन कर लीजिये । तब तक मेरे पति की लाश ऐसे ही रखी रहेगी । उस देवी की अपने सिद्धान्त पर दृढता का यह परिणाम हुआ कि बडी शीघ्रता से कार्यवाही होकर सुरीनाम में मुर्दों को जलाये जाने संबन्धी नियम बन गया । तभी उस देवी ने अपने पति की देह का दाहकर्म किया ।[२]

शरीर के भस्म हो जाने पर वही बचा रहता है जो अनुच्छित्तिधर्मा है - अमर है । यह शरीर और प्राणवायु केवल इस जीवन के साथी हैं । शरीर के पार्थिव तत्वों के विलीन होने और प्राणों के भी यहीं रह जाने के बाद जन्म-जन्मान्तर के साथी तो कृतकर्म हैं । उन्हीं के संस्कार साथ जाते हैं । इसलिए वेद ने इन संस्कारों को जन्म देने वाले कर्मो को स्मरण करने का निर्देश किया है । कर्मो के साथ-साथ प्रभु को स्मरण करने की भी शिक्षा दी है। प्रभु का स्मरण नश्वर शरीर के लिये किये जाने वाले कर्मो से बचने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है ।

अन्त समय में प्रभु का स्मरण और कृतकर्मो का चिन्तन बडा उपयोगी है । 'मनुष्य जिस प्रकार के विचारों को अपने मन में अन्त समय में लाता है, दूसरे जन्म में उन्हीं संस्कारों के साथ उत्पन्न होता है ।'[३] मृत्यु के १.

१सत्यार्थ प्रकाश - समु. १३, पृष्ठ ७६७ २. जनज्ञान मासिक, २ मई १९७६

३. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।। गीता ८-६ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य: प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।। गीता ८-१३

समय जिस प्रकार का चित्त होता है, उसी प्रकार का चित्त प्राण के पास पहुंचता है। प्राण अपने तेज के साथ आत्मा के पास पहुंचता है। प्राण ही तेज, चित्त और आत्मा को अपने संकल्पों के अनुसार के लोकों में ले जाता है। प्राण की दो शक्तियां हैं - शारीरिक तथा मानसिक। प्राण की शारीरिक शक्ति उसका तेज है। उसी के तेज से शरीर क्रिया करता है। प्राण की मानसिक शक्ति उसका चित्त है। इस चित्त के द्वारा ही संकल्प-विकल्प होता है। शरीर से कूच करते समय प्राण अपने तेज और चित्त को साथ लेकर चलता है। परन्तु इस शरीर में रहते हुए इसका जैसा तेज और चित्त हो चुका होता है वैसे ही लोक में जा सकता है। चलते समय आत्मा भी कूच करता है, क्योंकि आत्मा और प्राण साथ-साथ रहते हैं। इस प्रकार शरीर से कूच करते समय प्राण अपने शारीरिक (तेज), मानसिक (चित्त) तथा आत्मिक (आत्मा)- इन तीनों आधारों को साथ लेकर चलता है। जिस मार्ग से आत्मा शरीर से निकलता है उसे उपनिषत्कार ने उदान मार्ग कहा है। यह वह मार्ग है जो हृदय की उस नाडी से चलता है जो मस्तिष्क में जाकर खुलती है और जिसे 'कैरोटिड आर्टरी' कहते हैं। मृत्यु तभी होती है जब मनुष्य का मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है।१

गीता व उपनिषद् की यही बात लोक में 'अन्त मता सो गता' इन शब्दों में कही गई है। परन्तु मृत्यु के समय जब प्राण कण्ठ में अटक रहे हों तब ऐसी बातें कहने का क्या लाभ ? उस समय वह कुछ करने धरने की स्थिति में नहीं होता। उस समय मनुष्य के भीतर वही विचार उभरते हैं जिनका वह अतीत में अभ्यस्त होता है। जीवन भर मन, वचन और कर्म से पापकर्मों में लिप्त रहने वाले व्यक्ति के लिये अन्त समय में मन में अच्छी भावनायें लाना असंभव जैसा है। मृत्यु के सन्निकट होने पर मनुष्य अवचेतन या अचेतन अवस्था में होता है। उस समय उसके वही संस्कार उद्बुद्ध होते हैं जिनमें वह जीवन भर घूमता रहा होता है। पुण्यात्मा व्यक्ति के मुख से ही अन्तकाल में अनायास प्रभु का नाम या स्वामी दयानन्द की तरह 'ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो' जैसे शब्द निकलते हैं। इसलिए इस श्रुति का अभिप्राय यही है कि मनुष्य जीवन भर इन बातों पर ध्यान दे। प्रतिदिन किया गया प्रभु का स्मरण मनुष्य की शक्ति को क्षीण नहीं होने देता। सायं प्रातः स्मरण करते रहने से उसकी ताजगी बनी रहती है। स्वभावतः सतत क्रियाशील होने से जीव कर्म किये बिना तो रहेगा नहीं। परन्तु फलभोगोपरान्त, कृतप्रयोजनकत्वात्, भौतिक शरीर की नश्वरता को ध्यान

१. यच्चित्तस्तेनैष प्रणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥ प्रश्न. ३-१०

में रख कर प्रभु से शक्ति पाकर कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्त रहेगा तो उसके कर्म उसे अमर बना देंगे। मृत्यु का स्मरणमात्र उसे दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने से बचाता रहेगा।

पुनर्जन्म- जिन लोगों को वैज्ञानिक जगत् में अद्यतन सिद्धान्तों की जानकारी नहीं है वे अभी तक यही समझते हैं कि पंचभूतों के संघात का नाम ही जीवात्मा है और इसलिये शरीर के नष्ट होते ही जीवात्मा का भी नाश हो जाता है।[१] जब जड तत्व विभिन्न देह आदि के रूप में परिणत होते हैं तो उनमें एक विशेष शक्ति का उद्‌भव हो जाता है। उसी को चेतना कहते हैं। तन्तुओं में शीतादि के निवारण की शक्ति नहीं होती परन्तु कपडा बन जाने पर उसमें शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऐसे ही देहादि जड तत्वों में चेतना न होने पर भी देहरचना के साथ वहां चेतनाशक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

इस शंका का समाधान करते हुए वेदान्त दर्शन में कहा है कि आत्मा का देह से व्यतिरेक-भेद मानना आवश्यक है, क्योंकि देह के रहते हुए भी उसमें चेतनता आदि गुण नहीं पाये जाते।[२] मृत देहमें विभिन्न जड तत्वों के ज्यों के त्यों विद्यमान रहने पर भी इन्द्रियों से न ज्ञान की उपलब्धि होती है, न कर्म की। इसलिये चेतन तत्व शरीर से सर्वथा अतिरिक्त है। उसी तत्व का नाम आत्मा है जो शरीर के मरने - नष्ट होने पर भी नहीं मरता।[३]

यदि पंचभूतों के संघात का नाम ही आत्मा होता तो शरीर के नष्ट होते ही जीने मरने का झंझट समाप्त हो जाता, क्योंकि चार्वाक के अनुसार **'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?** परन्तु न इस देह के बनने पर हम जन्म लेते और न इसके नष्ट होने पर मरते हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार हमारे निरन्तर जन्म लेते रहने का नाम जीवन है और प्रत्येक जन्म के साथ अनिवार्यरूप से मृत्यु जुडी है।[४]

यहां से जाकर फिर होना पुनर्जन्म कहाता है।[५] जिस शरीर को

---

1. The soul is only the sum total of the activities of the body, and that the former ceaces to exist when death overtakes the latter.

१. जिन्दगी क्या है, अनासिर की मुनासिब तरतीब।
मौत क्या है, इन्हीं अजजा का परीशां होना॥

२. व्यतिरेकस्तद्‌भावाभावित्वान्नतूपलब्धिवत्। वे. द. ३-३-५४ ४० न हन्यते हन्यमाने शरीरे। गीता २-२०

3. all life is a constant birth or becoming and all birth entails constant death. - An Idealist View of Life.

४. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। गीता २-२७

५. प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः। न्याय. १-१-१९

जीवात्मा एक बार छोड देता है उसे दुबारा प्राप्त नहीं कर सकता। एक देह को छोडकर देहान्तर प्राप्ति ही पुनरुत्पत्ति है। मोक्ष प्राप्ति होने पर नियत समय के अन्तराल को छोड कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त। आत्मा को नित्य मानने पर शरीरों को छोडने और ग्रहण करने का अनुक्रम अनिवार्य हो जाता है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता। फिर उसकी उत्पत्ति कहां से होती ? क्योंकि स्वरूप से उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया -'जब वृक्ष को काट गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खडा होता है। परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खडा होता है ?'[१] जब किसी से उत्तर न बन पडा तो स्वयं याज्ञवल्क्य ने कहा -'वह मूल आत्मा है जो स्वरूप से कभी उत्पन्न नहीं होता और सदा बना रहता है।'[२] मनुष्य अन्न की भांति पैदा होता, बढता, नष्ट होता और पुन: उत्पन्न होता है।[३] प्रसिद्ध फ्रैंच लेखक विक्टर ह्यूगो ने कहा है -'मुझे अपने भीतर से पुनर्जन्म का आभास होता है। मुझे लगता है जैसे मैं एक जंगल हूं जो एक बार कट चुका है। उसमें फूटी नई शाखायें पहले की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत और सुन्दर हैं'।[४]

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य हैं। कर्ता और कर्म का नित्य संबन्ध है। प्राणी कर्म से बंधा हुआ है[५] और कर्म का बिना भोगे क्षय नहीं होता।[६] पूर्वापर जन्म न मानने से 'कृतहानि' तथा 'अकृताभ्यागम' दोष आता और परमेश्वर 'नैर्घृण्य' तथा 'वैषम्य' का दोषी बनता है। जो लोग परजन्म नहीं मानते उनके गले 'कृतहानि' क दोष पडता है। क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जायेंगे, जबकि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मो का फल अनिवार्यरूप से भोगना पडता है। इसलिए 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है। कर्म किये बिना सुख-दु:खरूप फल का पाना 'अकृताभ्यागम' दोष कहलाता है। पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है। एक आत्मा अत्यन्त सुखसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यो का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान बन कर जीवन भर दर-दर की

---

१. मर्त्य: स्विन् मृत्युना वृक्ण: कस्मान्मूलात्प्ररोहति। बृहद्. ३-९-२८.२. जात एव, न जायते। बृहद्. ३-९-२८. ३. सत्यमिव पच्यते मर्त्य: सस्यमिवाजायते पुन:। कठ. १-६.

4. I feel in myself the future life. I am like a forest once cut down; the new shoots are stronger and lovelier than ever.

५. कर्मणा बध्यते जन्तु:। म. भा. शान्तिपर्व २४०-७६. नाभुक्त क्षीयते कर्म। म. भा

ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों ? पूर्वजन्म है नहीं जिसमें उन्होंने पाप-पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे बिठाये - बिना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों ? बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिये इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और परजन्म के मानने से वहां इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दु:ख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्यायकारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते।

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाये तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाये कि इस देह के साथ ही एक दिन हमारा भी अन्त हो जायेगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रहेगा ? परिणामत: नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सच्चाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' के अनुसार ही जीवन बिताना ठीक समझा जायेगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार कर अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक कक्षा में रहते हुए एक वर्ष में जो पढ लिया सो पढ लिया। परीक्षा में असफल होने पर दुबारा पढने का अवसर नहीं और सफल होने पर और आगे पढने का अवसर नहीं। मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव है। इसीलिए गीता में कहा है कि जन्मजन्मान्तर की साधना के बाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।[१] अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिये प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास बन जाये तो क्या होगा ? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्म का पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं जायेगा।[२] आत्मा के अमर होने से उसके इस जन्म के संस्कार ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहां उसका अभ्यास छूटा है वहां से आगे प्रारम्भ करने के लिये उसे फिर अवसर मिलेगा। एक बारकी असफलता से निराश नहीं होना चाहिये।[३] ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्ण सफलता - मोक्ष की प्राप्ति होने तक बार-बार अवसर मिलता है। इसी से जीवन में उत्साह और शुभकर्मों में प्रवृत्ति को

१. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। गीता ६-४५

२. पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६-४०

३. नात्मानमवमन्येत पूर्वभिरसमृद्धिभि:। मनुस्मृति ४- १३७

बल मिलता है। मनुष्य हंसते-हंसते मृत्यु का आलिंगन करेगा, जब उसे विश्वास होगा कि पुराने कपडे इसलिए उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिये हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरों से भिन्न है। एक ही मां बाप के दो पुत्रों को अध्ययन के लिये एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनों में एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन-सहन की व्यवस्था में भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ है कि बार-बार समझाने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आता, जबकि दूसरे की धारणाशक्ति इतनी अच्छी है कि वह संकेतमात्र से सब समझ जाता है। उसे पढते समय ऐसा लगता है जैसे उसे कोई नई बात नहीं बताई-सिखाई जा रही है, अपितु वह पहले पढे हुए की आवृत्तिमात्र कर रहा है। जिन घटनाओं को देख कर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरण पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट और रामानुज जैसी आत्मायें संसार को चमत्कृत कर देती हैं। महाराजा भोज के दरबार में चार ऐसे पण्डितों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुनने से श्लोक याद हो जाते थे। जान स्टूअर्ट मिल ने ६ वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू किया था। गेटे ने ७ वर्ष की आयु में अपना पहला प्रहसन लिखा था। मेकाले ने ७ वर्ष की आयु में कविता करना शुरू कर दिया था। ७-८ वर्ष की आयु में काव्य रचना करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वर्ड्सवर्थ को कविता करना किसने सिखा दिया? वर्ड्सवर्थ के विषय में कहा जाता है कि जब उसके पिता ने कविता करने के कारण उसे पीटा और भविष्य में कविता न करने का वायदा करने को विवश किया तो वर्ड्सवर्थ के मुख से क्षमायाचना के शब्द भी कविता बन कर ही निकले।[1] एक ओर जहां संसार में ऐसी विलक्षण प्रतिभायें देखने में आती हैं वहां दूसरी ओर निपट मूर्खों की भी कमी नहीं है। इस बुद्धिभेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है। ईश्वर को निमित्त कारण माना जाये तो वह पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास में कारण मानने वाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य के बीच पाये जाने वाले इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पाने वाले शंकराचार्य की महान् उपलब्धियां उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानी जा सकती। पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है - ऐसा माने बिना इसकी व्याख्या संभव नहीं। प्रारम्भ में ही

---

1. Papa papa mercy take,
Verses I shall never make

किसी विशिष्ट विषय में रुचि अथवा प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म का अभ्यास ही कारण है। स्वामी रामतीर्थ ने एक जापानी का उल्लेख किया है जो ७० वर्ष की आयु में रूसी भाषा सीखने का यत्न कर रहा था। आयु के अन्तिम दिनों में किये जा रहे इस प्रयास के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसने कहा - यदि मैं इस जन्म में रूसी भाषा पूरी तरह न सीख सका तो भी मेरी आत्मा पर उसके संस्कार बने रह जायेंगे। परिणामत: अगले जन्म में बचपन से ही रूसी भाषा में मेरी प्रवृत्ति होगी और मैं उसे जल्दी सीख जाऊंगा। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म में प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है।

जीव के शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रथम प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर उसका संस्कार होता है। तदनन्तर स्मृति होती है। स्मृति होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति निवृत्ति होती है। माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास लेने और रोने लगता है? माता के स्तन से दूध पीने लगता है। पूर्व संस्कारों के बिना यह प्रवृत्ति कहां से आ गई? उसे कब कौन बता गया कि कैसे मुंह चला कर दूध पिया जाता है। उसे दूध पीते देख कर यही आभास होता है कि वह सारी प्रक्रिया से पहले से परिचित है। पेट भरने पर स्तन को स्वयं छोड कर अलग हो जाता है। यह निवृत्ति भाव भी कहां से आया? एक दिन के बालक को, जिसने अभी अच्छी तरह आंखें भी नहीं खोलीं, माता पिता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि बालक के भीतर स्थित आत्मा को पहले से ही कुछ स्मृति है। उसी के सहारे वह अपना काम चला रहा है। इस जन्म में जिसने अभी आहार का अभ्यास नहीं किया उस जातमात्र बालकका भूख से पीडित होने पर आहार के अभ्यास और स्मरण के बिना स्तन्यपान की अभिलषा को हाथ पैर मार कर और रो रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं हो सकता। पूर्वदेह में रहते हुए आत्मा के तद्विषयक अभ्यास और उसकी स्मृति ही बालक की इस प्रवृत्ति में कारण है।

सद्योजात बालक के द्वारा हर्ष, शोक, भय आदि की अभिव्यक्ति भी पुनर्जन्म को सिद्ध करती है। बालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार में पहले कुछ सप्ताहों में कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके बडे हो जाने पर नहीं रहती। सोते-सोते बालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दु:खी सा होकर मुंह बनाने लगता है और कभी भयाक्रान्त होकर कांप उठता या चीख पडता है। स्वप्नावस्था में किसी स्मृति के कारण ऐसा होता है। बिना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं हो सकती। स्वप्नावस्था में वही देखा, सुना या अनुभव किया जाता है जो पहले कभी जागृतावस्था में देखा, सुना या अनुभव किया जाता है। इस जन्म में अभी

तक बालक ने सुख, दु:ख या भय के कारणों को अनुभव नहीं किया ।बाहय जगत् में अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आरम्भ नहीं हुआ । ऐसी अवस्था में पूवर्जन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात बालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नहीं हो सकता ।

जैसे जहाज की यात्रा की लम्बाई का अनुमान उस पर लदी सामग्री से होता है, वैसे ही मनुष्य की यात्रा की लम्बाई का अनुमान उसमें अन्तर्हित शक्तियों से लगाया जा सकता है । यदि इसी जीवन के साथ मनुष्य का अन्त होना होता तो उसे इतने अधिक बौद्धिक सामर्थ्य, नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक आदर्शो से सम्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी ? जो कुछ मनुष्य के भीतर भरा है, वह इस बात का साक्षी है कि उसकी यात्रा का अन्त वर्तमान जीवन की बन्दरगाह पर होने वाला नहीं है । विक्टर ह्युगो का कथन है - 'तुम कहते हो कि शारीरिक शक्तियों से अतिरिक्त आत्मा की कोई सत्ता नहीं । यदि ऐसा है तो क्या कारण है कि जैसे-जैसे मेरी शारीरिक शक्तियों का हास होता जाता है वैसे वैसे मेरी आत्मा की दीप्ति बढती जाती है । मेरे सिर पर शिशिर मंडरा रही है, किन्तु मेरे हृदय के भीतर बसन्त का साम्राज्य है । पिछले पचास वर्षो से मैं अपने विचारों को इतिहास, दर्शन, संगीत, नाटक आदि के माध्यम से गद्य और पद्य में लिखता आ रहा हूं । फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने हृद्गत विचारों का सहस्त्रांश भी व्यक्त नहीं कर पाया हूं । कबर में जाते समय मैं यह तो कह सकता हूं कि मैंने अपना आज का काम पूरा कर लिया किन्तु यह नहीं कि मेरा जीवन पूरा हो गया । अगले दिन प्रात: मैं फिर से अपने काम पर लग जाऊंगा । कबर अन्धी गली नहीं है, आम रास्ता है जो शाम के झुटपुटे में बन्द हो जाता है और अगले दिन प्रात: फिर चालू हो जाता है ।'[१] ऐसी ही बांत जेम्स मार्टिन्यू (James Martineu) ने अपने ८० वें जन्म दिवस के अवसर पर कही थी - 'मैं अपनी योजनाओं का कितना थोडा भाग कार्यान्वित कर सका हूं । कोई बात इतनी स्पष्ट नहीं ज़ितनी यह कि लम्बे से लम्बा वर्तमान जीवन भी अंशमात्र है ।'[२] मार्टिन्यू ने एक और महत्वपूर्ण बात कही; और

1. You say the soul is nothing but the resultant of bodily powers. Why then, is my soul more luminous when my bodily powers begin to fail. Winter is on my head, but the eternal spring is in my heart. For half a century I have been writing my thoughts in prose and in verse, history, philosophy, song, drama, etc. But I feel I have not said the thousandth part of what is in me. When I go down to to the grave, I can say, " I have finished my day's work. " But I cannot say, " I have finished my life." My days work will begin again the next morning. The tomb is not blind alley; it is a thoroughfare. It closes on the twilight and opens on the dawn. ~_ Great Thoughts, Jan. 1933

वह यह कि 'हम आत्मा की अमरता में इसलिये विश्वास नहीं करते क्योंकि हम उसे सिद्ध कर चुके हैं । हम तो उसे सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि हम उसमें विश्वास करते हैं ।'[३] हम आत्मा की अमरता में इसलिये भी विश्वास करते हैं क्योंकि विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है । आत्मा का अमर न होना आज तक सिद्ध नहीं हुआ । इस सन्दर्भ में जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि 'यदि पुनर्जन्म की आशा से किसी को सन्तोष मिलता है अथवा इससे उसे कुछ लाभ पहुंचता है तो उसके ऐसा करने में कोई बाधा नहीं है ।'[४]

दुर्जनतोषन्याय से यदि हम विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर ले तो वह भी पुनर्जन्म की सिद्धि में सहायक है । जब हम वनस्पति और पशु-पक्षियों में पीढी दर पीढी होने वाले परिवर्तन और विकास को देखते हैं तो हमें निश्चय हो जाता है कि जीवन समाप्त नहीं होता । उसमें नैरन्तर्य बना रहता है । परिवर्तन का अर्थ ही यह है कि जो वस्तु जिस अवस्था में हो उससे दूसरी अवस्था में हो जाये । विकसित या परिवर्तित वस्तु बिल्कुल नई नहीं होती, उसमें पुराना अस्तित्व बना रहता है । यह बात न हो तो परिवर्तन या विकास का कुछ अर्थ ही नहीं रहता । यदि हर शरीर में नई आत्मा हो जो शरीर के साथ उत्पन्न होती हो और उसी के साथ नष्ट हो जाती हो तो विकास किस का ? विकसित होने वाली वस्तु के मूलरूप का विकास से पहले और पीछे किसी न किसी रूप में विद्यमान होना अनिवार्य है। चार्ल्स डार्विन के मतानुसार यह कैसे संभव है कि विकास की धीरे-धीरे होने वाली दीर्घकालीन प्रक्रिया के बाद मनुष्य तथा अन्य चेतन प्राणी पूरी तरह लुप्त हो जायें ।[५]

सृष्टि में जितना भी सौन्दर्य और चमत्कार है वह सब मनुष्य के लिये है । वस्तुत: यह सब मनुष्य की ही कल्पना है जो 'पत्थरों में प्रवचन, बहते हुए नालों में पुस्तकें और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई'[६] के दर्शन कर लेता है ।

---

2 How small a part of my plans have I been able to carry out. Nothing is on plain as that life at its fullest on earth is but a fragment.

3. We do not believe immortality because we have proved it; but we try to prove it because we believe it

4. To anyone who feels it conducive either to his satisfaction or usefulness to hope for a future life, there is no hindrance to his indulging in that hope.

5. It is an intolerable thought that man and all other sentient beings are doomed to complete annihilation after such long continued process.

6. Sermons in stones, books in running brooks and good everything.

यह कैसे हो सकता है कि सृष्टि में सौन्दर्य तो बना रहे किन्तु उस सौन्दर्य की कल्पना करने वाली सत्ता न रहे। यह तर्कसंगत नहीं है। जिसने सृष्टि की रचना की है, निश्चय ही, वह सृष्टि से कहीं अधिक महान् होगा। इसी प्रकार जो आत्मा सत्यं-शिववं-सुन्दरम् की कल्पना करती है वह उतनी ही नित्य एवं अविनाशी होनी चाहिये जितनी उसकी कल्पना।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर ओलिवर लाज के मतानुसार 'जो है वह था भी और रहेगा भी अर्थात् जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता। इसलिये स्थिरता ही सत् की कसौटी है। यदि भौतिक जगत् में सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त बौद्धिक तथा आध्यात्मिकर्जा के क्षेत्र में क्यों नहीं लागू होगा क्योंकि सृष्टि एक है। विज्ञान ने जो कुछ ऊर्जा स्थिरता के विषय में खोज निकाली है, वह धर्म द्वारा आत्मा की अमरता विषयक खोज का भौतिक पर्याय है।'[१]

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी-दार्शनिक, सन्त, कवि, वैज्ञानिक -इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। इमर्सन के अनुसार परिपक्व बुद्धि वाले मनुष्य को पुनर्जन्म का सिद्धान्त बरबस स्वीकार करना पडता है।[२] बीसवीं सदी में 'ईश्वर मर गया' का नारा देने वाले निरीश्वरवादी जर्मन दार्शनिक नित्शे को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पडा। उसने लिखा -'कर्मशक्ति के जो रुपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है। इसलिये कहना पडता है कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्मचक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है। वह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है।'[३] बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नहीं मानते तथापि वैदिक धर्म में स्वीकृत पुनर्जन्म के सिद्धान्त को उन्होंने पूरी तरह अपनाया है। इसलाम

---

3. Complete Works of Nitcche. Vol. xvi, P. 235-225

1. Whatever is both was and will be. Persistence or conservation is the test or criterion of real existence. If it is imposible to think of physical energy as appearing and disappearing or coming into and going out of existence, why is it not equally impossible to think of intellectual or spiritual energy. For, the univerce is one. What science has discovered about the conservation of energy is the only physical equivalent of what religion has discovered about the immortality of the soul.

2. Here is the wonderful thought. Wherever man ripens, this audacious belief presently appears. As soon as thought is exercised, this belief is inevitable.

और ईसाई मत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते तथापि उनके मान्य ग्रन्थों में यत्र तत्र पुनर्जन्म के पोषक वचन उपलब्ध हैं। यूरोप आदि देशों के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे अपनाये बिना न रह सके।

दार्शनिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊंचा है। विश्व के बडे बडे दार्शनिक और वैज्ञानिक वहां हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अपनाया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है।'[१] उसके सिद्धान्तानुसार आत्मा द्रव्य होने से अविनाशी है। आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है, वस्तुत: वह पुनर्जन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है - ज्ञान केवल स्मरणमात्र है।[२] आत्मा में बार बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है और वह अपना चोला सदा बदलती रहती है।[२क]

प्लेटो के सुयोग्य, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी, शिष्य अरस्तु (Aristotle) की मान्यता है कि आत्मा नित्य है औरभौतिक शरीर से भिन्न(Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुजर कर उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है। यूनान के ही प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक पिथागोरस ने लिखा है कि अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशुयोनि में जन्म लेता है।[३] एम्पीडोक्लीज ने पुनर्जन्म का आधार गीता के **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'** के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को माना है।[४] पुनर्जन्म में विश्वास के कारण ही वह मांस भोजन से भी घृणा करता था।

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है कि दर्शन शास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पडेगा, क्योंकि जो अनन्त (अविनाशी) है वह अनादि (अनुत्पन्न) है।[५] फ्रांस के लैसिंग ने तर्क दिया

5 Melampsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable.

4. Here sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike for flesh as food. _ Calcatta Review Vol. vxii, P.97. 1. Soul is a substance and, therefore, indestructible_ Republic 2. All knowledge is rememberence.

2a. The soul has a natural strength which will hold out and be born many times. The soul always weaves her garment anew.

3. All things are but altered. Nothing dies and here and there the unbodied soul flies, by time or force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast.

अशुद्धि - पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	यथार्तता	यथार्थता
६	११	शान्ति	शीत
६	२७	चार	बार
८	२२	अहष्टरूपी	अदृष्टरूपी
९	१८	shoud, god	should,God,
९	२३	रचना - -	रचना करता
१०	३२	समावेष	समावेश
१२	८	वाचु	वायु
१२	२९	टिकाकारों	टीकाकारों
१४	५	पत्नि	पत्नी
१४	१२	ममयोनिद्र-	मम योनि
१५	११	नर	वह
१६	२	द्दष्टि	दृष्टि
१६	३३	ब्रह्मचर्यश्र्वक,द	ब्रह्मचर्यपूर्वक, की
१७	३	बहुनामेतत्	बहूनामेतत्
१८	२५	व्याधितोऽल्यामुरेव,	व्याधितोऽल्पायुरेव
१९	२५	certaion	certain
१९	२९	longerity	longevity
२०	२३	- - वासंस्तननू	वासंस्तनू
२१	११	a	an
२२	३१	paint	painting
२३	१५	अर्जुन	अर्जुन के
२३	२२	मध्य	युध्य
२४	२	की	की गई
२४	३१	ना भुक्तं	नाभुक्तं
२५	४	क	कर
२६	३	उरदायी	उत्तरदायी

२६	११	होता	हो
२६	३१, ३३	god, shell	God, shall
२७	९	प्रेक्षक	प्रेरक
२९	४, ९	अपने, को	अगले
३०	३३	deciet	deceit
३१	१५, १६,	-, मान्यम	बिना भोग,माध्यम
३२	१६	अभ्यदय	अभ्युदय
३५	२५	स्वरसबाही	स्वरसवाही
३९	१८	बुलन्ब	बुलन्द
३९	२३	वही -	वही है
३९	३२	विश्वास	अविश्वास
४०	२	हमारा - शरीर -	हमारा आत्मा
४०	२,१३	एषनायें	शरीर से, एषणायें
४०	२२	-	दु:ख
४१	९.	एषनाओं	एषणाओं
४२	१	आदि -	आदि से
४३	७	के	का
४४	२३	पृथिवि	पृथिवी
५१	१८	टॉक्टरी	डॉक्टरी
५६	२२	- -	के अनुसार
६२	२६, ३४	on, good -	as, good in
६३	४	शिववं	शिवं
६३	१०	आध्यात्मिकर्जा	आध्यात्मिकता
६५	३२	pn	on
६६	८	बाल्याकाल	बाल्यकाल
६७	३५	another	mother

१. जहां पर भी 'क्ष' आया हो, वह 'क्षा' पढ़ा जाये ।

२. जहां पर भी 'त्त' आया हो, वह 'त्ता' पढ़ा जाये ।

३. पृष्ठ १५ की अन्तिम पंक्ति 'विमानस्थान अध्याय ३ में लिखा है -' के आगे पृष्ठ १८ की पंक्तियां 'जैसे रथ में लगा- - -यही अकाल मृत्यु है ।' जोड़कर पढ़ा जाये ।

फाउंडेशन द्वारा प्रकाशित एवं प्रसारित महत्वपूर्ण ग्रन्थ

श्री देवेन्द्रकुमार कपूर विरचित

१. वैदिक पीयूषधारा
२. Vedic Concept of Yoga Meditation
३. Lectures on Yoga Meditation
४. Vedic Lores

श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती विरचित

१. भूमिकाभास्कर
२. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता
३. वेदार्थभूमिका [हिन्दी]
४. वेदार्थभूमिका [संस्कृत]
५. Vedic Concept of God
६. The Brahmasutra-a new approach
७. सत्यार्थभास्कर [प्रेस में]

डा॰ कृष्णलाल विरचित

वैदिक यज्ञों का स्वरुप—पशुबलि के सन्दर्भ में

ग्रन्थकार

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान्, यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिककाल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन शैली का अपना वैशिष्ट्य है। वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र तथा प्राचीन इतिहास आदि विभिन्न विषयों पर संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में आपने लगभग दो दर्जन मौलिक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से अनेक केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारों तथा स्वयं-सेवी संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हैं। पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने ५० वर्ष तक शिक्षा-क्षेत्र में कार्य किया है। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज़ों के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के राष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। कुछ समय तक आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय बृन्दावन के आचार्य पद को भी सुशोभित किया। वर्षों तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्यासभा (सेनेट) तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा व दिल्ली की अनेक धार्मिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक संस्थाओं से आपका निकट सम्बन्ध रहा है।